ॐ रामँ

कैवल्य शास्त्र

ज्वाला प्रसाद सिंहल, एम० ए०

सत् ज्ञान प्रकाशक मन्दिर,
मामू भाजा, अलीगढ सिटी, युक्त प्रदेश।

ॐ रामँ

प्रस्तावना

पुस्तक की आवश्यकता उसके पढ़ने से ही प्रत्यक्ष हो जायगी। मेरी लेखनी को प्राप्त हो देव-नागरी भाषा लज्जित ही हो सकती थी। भगवान् की कृपा से श्रीयुत सूर्यकान्त शास्त्री, व्याकरणतीर्थ ने उसे इतने कष्ट से तो बचा लिया, परन्तु फिर भी मेरे गँवारपन को वह कहाँ तक ठीक करते। अतएव सम्भव है कि अब भी अनेक त्रुटिया रहगई हों। उन के लिये केवल यही प्रार्थना कर सकता हू कि सुहृदय पाठक कृपा पूर्वक मुस्करा कर उन भूलों को स्वय सुधार लें। उनका प्रेमपूर्ण-विनोद भी मेरे लिये हित-कर ही होगा। शास्त्री जी को भला मैं कैसे धन्यवाद दू। उनके कष्ट का प्रतिफल तो उनके अपने ही प्रेमभाव का आनन्द हो सकता है।

आशा है कि भगवान् की कृपा से इन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार सामाजिक आचरण पर विचार "सामाजिक धर्म" नामी दूसरी पुस्तक में होगा। पाठक यह जान कर प्रसन्न होंगे कि इसी पुस्तक का अंग्रेजी सस्करण Eternal Truth के नाम से इङ्गलेण्ड व अमरीका में भी प्रकाशित हो रहा है। उर्दू का अनुवाद भी हो रहा है और आशा है कि द्रव्य सम्बन्धी सुभीता होने पर अन्य भाषाओं में भी अनुवाद शीघ्र प्रकाशित होंगे।

अलीगढ सिटी, युक्त प्रदेश
ता० १० अगस्त १९२३

ज्वालाप्रसाद सिंहल

तथा वेदान्त-शास्त्र में श्रद्धा रखने वाले जन-समाज के लिये अत्यन्त लाभदायक है।"

श्री गोपीनाथ कविराज जी, ऐम० ए०, प्रो० कुइन्स कालिज, गवर्नमेंट संस्कृत लाइब्रेरी, सरस्वती-भवन, बनारस—"अद्वितीय योग्यता का ग्रन्थ देश के दार्शनिक साहित्य में नि सन्देह उन्नति असाधारण तीक्ष्ण बुद्धि व विवेचन शक्ति प्रभावशाली ग्रन्थ सरल व युक्तिपूर्ण वर्णन चुभती हुई जोरदार शैली कदाचित् कभी ऐसी पुस्तक पढने का सौभाग्य प्राप्त होता है। दर्शन व धर्म के सत्य व नित्य तत्व जान कर उन के अनुसार सर्वदेशीय धर्म के निर्माण का प्रयत्न है और इस में लेखक ने सफलता प्राप्त की है।"

श्री सूर्यकान्त जी शास्त्री. व्याकरणतीर्थ, विद्या-भास्कर, मेहेवड, जि० सहारनपुर—"इसे यदि ससार का उत्पत्ति से लेकर प्रलय तक का इतिहास कहा जाय तो अनुचित न होगा। इस में स्पष्टतया समझाने का प्रयत्न किया है कि एक ही आदि तत्व से सृष्टि की उत्पत्ति कैसे और क्यों हुई। अद्वैत से द्वैत कैसे हो गया, सर्वातीत निर्गुण ब्रह्म सृष्टि से पूर्व किस अवस्था में था और फिर रूपान्तरित कैसे हो गया। माया का वास्तविक स्वरूप क्या है। 'स तपोऽतप्यत्' 'एको बहुस्यां प्रजायेय' इत्यादि श्रुतियों का रहस्य क्या है। क्षीरा शायी नारायण, उसका नाभि-

ॐ रामँ

विषय सूची।

विषय — पृष्ठ

कमल, उस में बैठा हुआ ब्रह्मा, उसकी सृष्टि, इन पौराणिक रहस्यों का विचित्र विवेचन देखकर दांतों तले अङ्गुल दबानी पड़ती है...लेखक ने जहा कोरी प्रकृति के उपासकों को आत्मामृत रसास्वाद कराया है वहा एकान्त आत्मवादियों को वास्तविक पञ्चभूतों के चने भी चबवाये हैं आदितत्व की वास्तविकता विचित्र-लीला और रूपान्तर-धारिणी-शक्ति पर ध्यान न दे दार्शनिक अपने अपने मत का प्रचार करते हैं पर जड और चेतन की गांठ दिनोंदिन उलझती ही जाती है। जड चेतन का वास्तविक अविरोध दिखाते हुए लेखक ने इस दुर्गम घाटी को सही सलामत पार कर दिखाया है .पाश्चात्य विद्वान भौतिक विज्ञान की उधेड़ बुन में हैं तो प्राच्य दार्शनिक आध्यात्मिक समुद्र में गोते खा रहे हैं .पर विज्ञ लेखक ने सब को युक्ति तथा प्रणय से मना कर एक ही तत्व का उपासक बनाकर कमाल किया है इस कलुषित कलिकाल में जब कि सम्पूर्ण मानव-समाज अपनी प्रखर पिपासा शान्त करने के लिये दृश्य ससार के परदे को उठा कर प्रेममय परमात्मा को निहारना चाहता है यह पुस्तिका भक्तों के लिये दैविक उपहार है लेखक के दिव्य सदेश ने वह भूल मिटा दी, झूठा पर्दा उठा दिया और प्रेमामृत की ओर इशारा कर अपना कार्य कर दिया यह जीवन-पथ के लिये प्रज्वलित दीप-शिखा है यह दिव्य-दर्पण है इस में यदि पाठकों ने ध्यान पूर्वक देखा तो अवश्य ही उन्हें अप्रतिम रूप सपन्न भगवान् के दर्शन होंगे।"

ॐ राम

कैवल्य शास्त्र

भूमिका

सभ्यता की आरम्भिक अवस्था में मनुष्य जहा भी विना प्रत्यक्ष कारण के क्रिया शक्ति पाते थे वहा ही चैतन्य जीव की कल्पना करते थे। शनै. शनै इन सब के अधिष्ठाता की कल्पना हुई। ऐसे अद्भुत और नियमबद्ध जगत् के लिये सञ्चालक की परम आवश्यकता प्रतीत होती है। अस्तु यह अधिष्ठाता इस ससार का ईश्वर हुआ और वह भी कैसा कि सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ, जिस से संसार का प्रवन्ध सफलता पूर्वक हो सके। ऐसा पूर्ण शक्ति वाला ईश्वर स्वभावत ही सर्व व्यापक होगा, उसकी सभी वाते पूर्ण हैं। उसकी शक्तियां व गुण अचिन्त्य हैं। उस पर विश्वास करने वालों के लिये परम क्षमावान् और पापियों के लिये परम भयंकर, अपने असख्य देवता व फ़िरिश्ते रूप अनुचरों के द्वारा स्वर्ग में पुण्यों का फल देने वाला और नरक में दड देने वाला है॥

ईश्वर सम्बन्धी यह विचार अपनी उत्पत्ति की स्वाभाविक त्रुटियों से युक्त थे। भिन्न भिन्न स्थानों के विचारों और रिवाजों में भेद होने के कारण ईश्वर सम्बन्धी विचार भी पृथक् पृथक् हुये। कैसा आश्चर्य है कि एक ही ईश्वर, सम्पूर्ण ससार के अधीश्वर ने संसार के असीम दुख और हानि का कारण फूट का वीज, अनेक मतों—जो कि सब ईश्वर को अपना ही

समझते हैं और उसी की आज्ञाओं पर निर्भर होने का दावा करते हैं—को उत्पन्न करके धो दिया। कैसा दृश्य है ! एक ही ईश्वर के अनुयायी आपस में उसे एक व अद्वैत स्वीकार कराने को लडते हैं, यद्यपि वह सब के सब पहले से ही इसमें विश्वास करते हैं। यह अद्भुत परन्तु सत्य है कि मतों का झगडा यथार्थ गुण और दोषों पर मति भेद होने से नही है और न रिवाजो के भिन्न होने से हो सकता है, क्योंकि एक ही मत के मनुष्यों मे भी ऐसा होता है परन्तु वह इसके लिये लडते नहीं। परन्तु जब एक ईश्वर प्रत्येक जाति के लिये पृथक् पृथक् हो जाता है और उनके पृथक् पृथक् रिवाजों पर अपनी मुहर लगा देता है तब लडाई छिड जाती है। परन्तु फिर भी ईश्वर की एकता में कुछ भेद न पडा, कैसा आश्चर्य है !

परन्तु सत्य एक है और ईश्वर भी यथार्थ में एक ही है। यह समस्या उसके कारण नही किन्तु हमारे ही कारण हैं। हमारे विचार हमारी त्रुटियो से भरे रहते हैं। हमारे स्वाभिमान, अहङ्कार एवं पक्षपात आदि दोष हमको उसका और उसकी सृष्टि का यथार्थ स्वरूप देखने नही देते। यदि हम अपने पक्षपात युक्त विचारो को छोड कर खुले मन से विवेचन शक्ति का आश्रय लेकर वास्तविकता की ओर बढें तो धर्म के उस अचल सिद्धात को, जो ईश्वर ने अपने स्वरूप में ही नियत किया है प्राप्त कर सकते हैं। कुछ पुरुष अपनी त्रुटियों से ऐसे हताश हुए कि उन्होंने ईश्वर को जानना असम्भव ही कह दिया। परन्तु फिर भी वह इतना कहते हैं कि वह सर्व शक्तिमान, सर्व व्यापक तथा सर्वज्ञ है। सब प्रकार से पूर्ण है, परम दयावान है और करोडों सूर्यों से भी अधिक प्रकाश वाला है। वह अधिकारी पुरुषों को दर्शन भी देता है, आज्ञा भी देता है। यथार्थ में वह स्वरूपत-

न जानने योग्य नहीं है किन्तु हमने उसके जानने का प्रयत्न विना उसके सकेतों को गृहण किये हुए ही किया। हमें अपने मनगढन्त विचारों को छोड कर उसके दिये हुये विवेक का प्रयोग करके उसके सत्य स्वरूप को जानना उचित है। जब उसने हम में अपने जानने के लिये प्रवल इच्छा उत्पन्न की है और अपने जानने के रास्ते को दिखाने के लिये हमें विवेक और विचारशक्ति भी दी है तो फिर वह न जानने योग्य कैसे हो सकता है? उसने तो जानने के लिये उपाय हमें दे दिये, परन्तु हम अपने ही नेत्रों के दोप से उनको देख नही पाते। यदि हम उसके सकेत को गृहण करें तो धर्म और नीति के उन अटल सिद्धातों पर पहुचेंगे कि जा व्यक्तियों अथवा समाजों की कल्पनाओं के दोप से रहित होंगे और सम्पूर्ण ससार व सब युगों के मनुष्यों के लिये एक ही होंगे। क्योंकि उनका आधार उसी पूर्ण ब्रह्म का पूर्ण प्रकाश रूप और पूर्ण ज्ञान होगा जो कि सब के लिये समान है।

जिन त्रुटियो के कारण हम परमात्मा को नही पहचानते, उन्हो ने हमको धर्म का आधार, समाज की आवश्यकताओं में अथवा एक दैविक धार्मिक चितवृत्ति में खोजने पर वाधित किया। हम अपने को ठीक राह पर समझते थे परन्तु यथार्थ में हम दूसरी ही पगडण्डी पर चल दिये, कारण कि अब धर्म के सिद्धांत अचल न रहे। धामिक चित्तवृत्ति के अनेक दरजों का शून्य तक भी होना तो इसी से प्रत्यक्ष है कि ससार में अनेक प्रकार के पापी पुरुप होते हैं। इसलिये ऐसी धामिक चित्तवृत्ति कोई निश्चित वस्तु नही कही जा सकती कि जिसके आधार पर धर्म का विचार दृढ हो सके। सामाजिक विचार से भी अनेक कठिनाइया उत्पन्न होती हैं। एक प्रकार के सङ्गठन और सभ्यता वाली समाज अपनी बातों को दूसरी समाजों से मनवाने

का प्रयत्न करेगी। धार्मिक सिद्धांतों के दृढ न होने से ससार के सब व्यक्तियों के हृदयों मे निरन्तर एक प्रकार का सग्राम रहेगा, जिसका परिणाम समय पाकर धर्म का पतन और स्वार्थ की वृद्धि ही होगी। अब भी भीषण युद्ध होंगे, परन्तु इतना और होगा कि वह धर्म प्रचार की पवित्र उत्तेजना से रहित होंगे। धर्म का आधार दृढ़ न होने का यह स्वाभाविक परिणाम है। किसी के जीवन की रक्षा करने मे झूठ बोलना उचित ठहरा दीजिये और शीघ्र ही वह सब झूठ, जिनसे किसी को हानि नही होती, अनुचित नही रहते। अपनी रक्षा के लिये झूठ बोलना अधर्म नही रहता और फिर तो यह उन्नति पूर्ण ही हो जाती है— झूठ से बचना इस कारण कठिन है कि समाज ही ऐसी है, अस्तु व्यवहारिक झूठ अनुचित नही है। यह केवल स्वार्थ सिद्धि के लिये झूठ है और सो भी सहज स्वभाव से व अनुताप रहित। दाम्पत्य सम्बन्ध मे ढील हुई कि विवाह पद्धति नए कर स्त्रियों में सर्वाधिकार व स्वतन्त्रता के पक्षपाती भी दीखने लगे। स्वाधिकार और स्वतन्त्रता के विचार कहा तक नही बढ़ सकते? धर्म के जहाज का लङ्गर टूट जाता है और क्षुब्ध ससार समुद्र उसे इधर से उधर फेंक कर तहस नहस कर डालता है। कारण प्रत्यक्ष है। धर्म के अन्यापेक्षी होने से अनेक प्रकार के तर्कों की सम्भावना होकर शिथिलता उत्पन्न हो जाती है। किसी कल्पित दैव की युक्ति रहित और नि शङ्क आशाओं का हमारा विवेक विरोध करता है और हमारी मनगढन्त बाधा तथा परिमितता ने हमे हमारी कल्पनाओं के स्थान पर किसी अचल, विवेकयुक्त, सत्य सिद्धात के स्थापन करने से रोक रक्खा है। बस, हम आत्मिक जीवन के अस्थिर आधार वाले स्वतन्त्र विचारक होकर, मनुष्यजाति को उत्तम और श्रेष्ठ गुणों से रहित की हुई, कुछ कुछ समझी हुई, प्रकृति

से उत्पन्न तृष्णा से चञ्चल होने के लिये छोड देते हैं।

कोई कोई सत्य की आवश्यकता समाज के कल्याण के कारण नहीं कहते किन्तु उसकी चित्त को पवित्र करने की शक्ति के कारण उसको गुण कहते हैं। कुछ लोग उसका महत्व मुक्तानन्द का देना कहते हैं। परन्तु विना इस रहस्य को जाने हुए कि ऐसा क्यों होता है, यह केवल अपने अनुभव का निरूपण है कि जो हमको सत्य प्रतीत होता है। परन्तु सम्भव है कि दूसरों को ऐसा स्थिर और निश्चल न ज्ञात हो जो कि अपने विचारों के अनुसार इसमें तर्क और भेद कर सकते हैं। और फिर कोई मनुष्य अपने को पवित्र क्यों करे, उसकी पवित्रता से उसे किस युक्ति पूर्ण सिद्धात के अनुसार क्या लाभ है?

किसी का विचार है कि धर्म से आत्मा का विकाश होता है और धर्म के अपरिमित होने से इस विकाश की भी कोई सीमा नहीं है। न मालूम इस अनन्त विकाश का किसी समय क्या स्वरूप होगा! यह सिद्धान्त केवल अज्ञानता व शक्तिहीनता की स्वीकृति है।

कुछ मनुष्यों का विचार है कि जीवात्मा अनेक विचार, स्वभाव व वृत्तियों का केवल सङ्घ मात्र है। अस्तु शरीर के के शान्त होने पर कोई आत्मा पृथक स्थित नहीं रहता, परन्तु जिन विचारों, विशेषताओं, स्वभावों व सिद्धान्तों को उस व्यक्ति ने अपने में प्राप्त किया था, जो कि उसकी आत्मा का सार तत्व थे, वह अवश्य पीछे के मनुष्यों में रहते हैं। जिस प्रकार हमारे पूर्व पुरुषों की आत्माएँ हमारे भीतर विद्यमान् हैं इसी प्रकार हम भी आगामी मनुष्यों में उपस्थित रहेंगे और इस प्रकार से हमारे जीवन का सार तत्व, जो सच्चा जीवात्मा है, अविनाशी कहा जा सकता है। कहा जाता है कि किसी पूर्व

है। इसके पश्चात् इस शास्त्र का सिद्धान्त आरम्भ होता है और तीसरे पाद में आदि वस्तु परब्रह्म के गुणों का अनुसन्धान किया गया है। यह दिखाया गया है कि ब्रह्म-जिज्ञासा बिना अपरिमित स्वरूप के प्राप्त हुए शान्त नहीं होती। इसका कारण मनुष्य की कल्पना-शक्ति की निर्बलता नहीं, वरन् सिद्धान्त की अन्तरीय आवश्यकताएँ हैं। यदि मनुष्य के अल्प ज्ञान के स्थान में ईश्वर का पूर्ण ज्ञान भी हो फिर भी इस सिद्धान्त में कोई भेद नहीं पडता। ऐसा अपरिमित स्वरूप स्वभावत: ही सर्व व्यापक होगा और संसार की सम्पूर्ण वस्तुएँ उसी का स्वरूप होगी क्योंकि किसी परिमित वस्तु की भी स्वतन्त्र स्थिति से अपरिमित भी परिमित हो जायगा। इस कारण इस अपरिमित स्वरूप में जड विस्तृत्व व चेतनता दोनों का ही बीज रूप उपस्थित होगा। यह स्वरूप परिमाण रहित अविच्छिन्न व निरन्तर है क्योकि सर्व व्यापक वस्तु में शून्य अवकाश नहीं हो सकता।

चतुर्थ पाद में यह दिखाया है कि इस आदि स्वरूप से किस प्रकार से चेतनता के स्वाभाविक गुणों के कारण जड चैतन्य तथा सम्पूर्ण ससार उत्पन्न होता है। यही चेतनता मूल शक्ति है। प्राकृतिक कार्य्य-कारण सम्बध प्राकृतिक अनुकरणता का केवल कथन है और उसकी शक्ति का स्रोत यही आदि शक्ति है। पचम पाद में जीवात्मा का विशेष निरूपण है और छठे पाद में उसके व शरीर के परस्पर सम्बन्ध पर विचार है। जीवात्मा पृथक् व्यक्ति होने से जब तक वह आदि वस्तु में विलीन हो कर मुक्ति को प्राप्त न होगा तब तक पृथक् व्यक्ति रूप स्थिति में ही रहेगा। उस समय तक उसका पुनर्जन्म होना स्वाभाविक व युक्ति पूर्ण ही है। आदि वस्तु से उत्पन्न हुआ जीवात्मा न अनादि है और

न अविनाशी ; परन्तु इससे उसके उत्पन्न हुई चित्त की वृत्तियों को शांत करने के लिये अनेक जन्म ग्रहण करने पर कोई आक्षेप नहीं होता। इस प्रसग से सप्तम पाद समाप्त होता है। अष्टम पाद में अवतार अथवा पूर्ण पुरुष के सम्भव सरूप का विचार है। नवे पाद में सृष्टि की त्रिगुणात्मिक तीन दशाओं, जो जड व चैतन्य दोनों के यथार्थ बोध के लिये आवश्यक हैं, के सिद्धान्त की व्याख्या है। दशम पाद में जीवनोद्देश्य पर विचार है।

एकादश पाद में आदि वस्तु के स्वाभाविक गुणों पर अचल धर्म का निर्माण किया है। उसकी अचलता का कारण सत वस्तु के अचल गुणो पर निर्भर होना है। द्वादश व त्रयोदश पादों में सापेक्षक, व्यक्ति गति व सामाजिक धर्म का विवरण है। चतुर्दश पाद मे सस्कार सम्बन्धी सिद्धान्त व मनुष्य की स्वतन्त्रता का विचार है। पन्द्रहवें पाद में चित्त-शुद्धि व प्रायश्चित का रूप दिखाया है और सोलहवें पाद में ग्रन्थ निर्मल दैविक प्रेम में विश्राम को प्राप्त होता है।

इस प्रकार से उस अगम्य को जानने का प्रयत्न किया गया है और इस ज्ञान की दृढ नीव पर अचल धर्म का, कि जो केवल विवेक के आधार पर होने से सब जातियो और सब समयो के लिये एक ही है, निर्माण किया गया है। इससे जितना धर्माकाश स्वच्छ हो उतनी ही इसकी सफलता है। बस, यही प्रार्थना है कि इस विचार-शैली को वृद्धि होने से यह ऐसे धर्म के निर्णय का कारण हो कि जिस से सब पक्ष वाले सन्तुष्ट हो कर प्रेम और आत्मिक समता से एक हो जाय। ससार की शान्ति के हेतु हम सब इस प्रार्थना को करे। हम सदैव उस प्रभु का स्मरण करें क्योंकि वही भाग्यशाली हैं जो उसके चरणों में है।

ॐ राम

ॐ राम

कैवल्य शास्त्र

१—जड व चैतन्य।

मैं सम्पूर्ण ससार की सत्यता पर विश्वास भले ही न करूँ परन्तु अपनी सत्यता में सन्देह नही कर सकता, कारण यह है कि यह सन्देह ही सन्देह करने वाले की स्थिति का प्रमाण है। यह पश्चिम के विख्यात दार्शनिक का सिद्धात है। परन्तु फिर भी बहुत से इस स्वात्मा को ही नही मानते और कहते हैं कि यह चैतन्य शक्ति जिस को हम जीवात्मा कहते हैं केवल शारीरिक सगठन का परिणाम है। परन्तु इस सिद्धात पर पूर्ण विश्वास कभी नही हुआ और ऐसे असख्य दार्शनिकों के रहते हुए भी ससार सदैव जीवात्मा की सत्यता को सत् ज्ञान का प्रथम पद समझता चला आया है। और यह अविवेक से नहीं, क्योंकि यदि मेरे आत्मा की शरीर से पृथक् कोई स्थिति नही है तो फिर मेरा सत्य का अनुसधान अथवा ससार की सत्यता के जानने के प्रयत्न सब व्यर्थ हैं। ऐसी दशा में तो मुझे केवल इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि किसी न किसी प्रकार भलाई वा बुराई से अपने शरीर को यथासाध्य सुख दू, क्योंकि शरीर के शात होने पर मुझसे कोई हिसाब नहीं लिया जा सकेगा। उस समय मेरी कोई स्थिति ही न होगी कि जिससे हिसाब लिया जाय।

शरीर से पृथक जीवात्मा की स्थिति की निर्मूलता के समर्थन मेंएक बडी युक्ति यह दी जाती है कि अनुभव कहता

है कि शरीर में किसी दोष के हो जाने से जीवात्मा की क्रिया में भी दोष उत्पन्न हो जाता है। और यह कभी कभी तो इतना तीव्रतम होता है कि एक ही शरीर में दो आत्मा अथवा अनेकात्मा प्रतीत होते हैं। ऐसी तीव्र दशाओं के अतिरिक्त यह तो साधारणत देखा जाता है कि भिन्न भिन्न मनुष्यों का स्नायु सगठन एकसा नही होता। अस्तु, उनकी मानसिक शक्तियों मे भी भेद होता है। और जब मनुष्य का शरीर मृत्यु को प्राप्त होता है तब कोई ऐसा कारण नही दीखता कि जिससे जीवात्मा का पृथक् जीवित रहना प्रमाणित हो सके। जिन विशेषताओं से हम जीवात्मा की स्थिति को पहचानते थे वह अब कही भी नही दीखती। हमारे जीवन के कार्य्यों का कारण हमारे शरीर के स्नायु सम्बन्धी ज्ञान से समझ में आ सकता है अतएव जीवात्मा के पृथक् कहने का कोई कारण नही रहता।

परन्तु यदि और कारणों से जीवात्मा की पृथक् स्थिति सत्य जान पड़े तो ऊपर की कठिनाइया दुस्तर नही हैं। यदि जीवात्मा को अपनी शक्तियों को प्रकट करने के लिये शरीर की आवश्यकता है तो उन शक्तियो का प्रकाश शरीर की इन्द्रियों की सख्या, दशा और योग्यता के अनुसार ही हो सकेगा। यदि किसी इन्द्रिय के सविकार या नष्ट हो जाने से जीवात्मा की उस शक्ति का प्रकाश नहीं होता तो इसका कारण यह हो सकता है कि उस शक्ति के प्रकट करने के लिये उपयुक्त इन्द्रिय न रही, [illegible] नही कहा जा सकता कि जीवात्मा में ही वह [illegible] । जैसे [illegible] मनुष्य एक आंख से अन्धा [illegible] यह [illegible] जीवात्मा भी कानी है [illegible] पृथक होता है तो न तो [illegible]

दोनों नेत्रों के अनुभव मिल कर मन मे एक जान पडते हैं परन्तु स्नायु जाल में कोई स्थान नेत्रों के स्नायुओं के मिलने का ज्ञात नही होता। इसी प्रकार अमुक समय पर जो मुझे अपनी सम्पूर्ण शारीरिक दशा का ऐक्यभाव सा आभास रहता है उसका सहचर कोई विशेष स्नायु-केन्द्र प्रतीत नही होता।

मानसिक और स्नायु सम्बन्धी क्रियाओं की ऐसी असगति का बडा सुन्दर व विख्यात उदाहरण इस तार, कि "तुम्हारा पुत्र मर गया", के "अर्थो" के मानसिक विचार का है। यदि इसमें से पहला अक्षर "तु" निकाल लिया जाय तो इसका अर्थ बिलकुल दूसरा हो जाता है। यद्यपि प्राकृतिक उत्तेजक कारण में अधिक भेद नही पडा, परन्तु उसके परिणाम में अत्यन्त अन्तर हो सकता है। पहली दशा में तो तार पाने वाले का सम्पूर्ण जीवन ही शोकमय हो सकता है और दूसरी में केवल एक दुख प्रकाशक पत्र ही फल निकलेगा। दोनों परिणामों में जो क्रिया शक्ति व्यय होती है वह प्राकृतिक उत्तेजना के अनुसार नही कही जा सकती। इन "अर्थो" का भी प्रभाव भिन्न भिन्न मनुष्यों पर भिन्न भिन्न होगा। अतएव "अर्थ" के समान्तर स्नायु क्रिया में कुछ भी नही है और "अर्थो" का समझना केवल मानसिक क्रिया है।

"अर्थ" का प्रभाव स्मरण शक्ति में भी प्रत्यक्ष है। अर्थ रहित अक्षरो व शब्दों के मेल को तो कई बार दुहराने से भी स्मरण रखना कठिन है, परन्तु यदि उसी समय पर कोई मनुष्य एक बार भी कोई ऐसी बात कहे कि जिसका सुनने वाले से विशेष प्रयोजन हो तो वह बिना दुहराये ही स्मरण रहेगी। परन्तु यह कहना कि अर्थ का स्नायु केन्द्र में यह समांतर है बडा कठिन है। विशेष कर तब जब कि हम यह विचार करें

कि कितने असख्य विचार, अर्थ, सिद्धात व और अनेक मानसिक वस्तुएँ हमारे मन में भरी रहती हैं।

जीवात्मा की एकता व सायौगिक क्रिया शक्ति हर्ष और कष्ट के विचार में भी प्रत्यक्ष होती हैं। हर्ष और कष्ट कोई विशेष प्रकार की शारीरिक क्रिया नहीं हैं वरन यह भाव हैं जो किसी भी क्रिया के सङ्ग हो सकते हैं और भाव मानसिक हैं। यद्यपि प्राकृतिक उत्तेजना एक हो अथवा एक सी हो परन्तु मन की दशा में भेद होने से जो पदार्थ एक समय हर्षदायक है वही दूसरे समय पर कष्टदायी हो सकता है। इसके अतिरिक्त हर्ष अथवा कष्ट से युक्त एक अन्तरीय साम्यभाव भी हो सकता है। कोई मनुष्य चिन्ता के कारणों के होते हुये भी प्रसन्न रह सकता है अथवा नाटक समाज के कृत्यों पर जनता के सङ्ग हँसते हुये भी वह अन्तर शोकयुत रह सकता है। मानसिक भाव की इस अन्तरीय एकता का समातर स्नायु केन्द्र नहा है। कोई रङ्ग जो कि स्वय हर्षदायक हैं किसी विशेष चित्र मे सयोग को प्राप्त होकर उस चित्र के अर्थों के कारण कष्टदायी हो सकते हैं। किसी चित्र में प्राकृतिक उत्तेजनाओं के एक ही समूह के अवलोकन से भिन्न भिन्न मनुष्यों के भिन्न भिन्न मानसिक भाव होंगे। अतएव यह अध्यात्म सम्बन्धी भाव केवल शारीरिक क्रियाओं के समांतर नहीं हो सकते।

जब कोई बालक खाद्य पदार्थ प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करता है और सफल भी होता है, तो फिर जब उस को आवश्यकता होती है तो कष्ट कम करना पडता है और फलीभूत होने वाली क्रिया तक वह पहले से शीघ्र पहुच जाता है। सांयोगिक सिद्धान्त के अनुसार दोनों बार की क्रियायें सम्पूर्ण और एक ही क्रम से होनी चाहिये। परन्तु हर्ष के सयोग से

सफल क्रिया ही विशेषता को प्राप्त करती है और जीवात्मा को ग्रहण शक्ति के कारण वह क्रिया ही उस क्रिया क्रम का मुख्य अङ्ग रहने पाती है। इस प्रकार स्वभावों की उत्पत्ति भी यन्त्रसदृश क्रियाओं से मानसिक भावों के अनुसार होती है।

यथार्थ में मस्तिष्क की निःसङ्ग क्रियायें भी जीवात्मा की पृथक् स्थिति की समर्थक हैं। क्योंकि वह उन दशाओं को दिखाती है कि जिनमें जीवात्मा का ध्यान उन क्रियाओं में नहीं होता जिससे कि यह प्रमाणित होता है कि केवल यान्त्रिक स्नायू क्रिया उस क्रिया से भिन्न हैं जिसमें जीवात्मा का ध्यान पूर्णतया उन क्रियाओं की ओर रहता है।

अनेकात्मिक दशा में भी जीवात्मा कुछ स्मृतियों को भूल सकता हो, अथवा मस्तिष्क में एकत्रित वस्तुओं से पूर्णतया काम न ले सकता हो, परन्तु उसके मानसिक भाव वही रहते हैं। इससे जीवात्मा की पृथक् स्थिति में कोई दोष नहीं होती। यन्त्रो के दो होने से कार्य दो प्रकार के हो सकते हैं परन्तु उससे कर्त्ता दो नहीं हो जाते। सहात्मिक दुष्प्राप्य दशा सम्भव है कि शारीरिक मन—जिसकी व्याख्या आगे होगी—की असा धारण वृद्धि व शक्ति प्राप्त करने से हो जाती हो परन्तु ऐसा बहुत कम हो सकता है। जो जन्तु बीच में काट देने पर दो हो जाते हैं उनका कारण एक दूसरे जीवात्मा का उस दूसरे भाग में प्रविष्टि होना हो सकता है। जैसे कि "एमीबा" नामक जन्तु शरीर के विभक्त होने से उत्पन्न होता है। यह क्रिया बड़े बड़े जीवधारियों में इस कारण से नहीं हो सकती कि उनके शारीरिक सङ्गठन के विशेष प्रकार का होने से कटा हुआ भाग जीवात्मा को उपयोगी नहीं रहता। और जीवात्मा का उसमें रहना असम्भव हो जाता है। और इन जन्तुओं में आवश्यक

वस्तुयें दोनों भागों में रहती हैं।

शक्ति सरक्षण की युक्ति भी जीवात्मा की पृथक् स्थिति को निर्मूल सिद्ध नहीं करती। यद्यपि जीवात्मा नवीन शक्ति उत्पन्न नही कर सकता तथापि वह अपनी शक्ति की चाल को विना सम्पूर्ण शक्ति के परिमाण में भेद डाले बदल सकता है।

दृढ़ सकल्प से धार्मिक कार्य करने में जो सञ्चित शक्ति अधिक व्यय होती है वह ऐसे व्यक्ति की स्थिति का प्रमाण है जो उस सञ्चित शक्ति राशि में से एकाएक इच्छानुसार शक्ति व्यय करने का अधिकार रखता हो। यह केवल यन्त्र सदृश क्रिया के सिद्धांत से समझ में नहीं आ सकता, क्योंकि प्राकृतिक उत्तेजनाओं के एक ही समूह का प्रभाव भिन्न भिन्न मनुष्यों पर भिन्न भिन्न होता है। यह नहीं कहा जा सकता कि इस भेद का कारण पूर्व में विचार-सयोगों की यन्त्र सदृश उत्पत्ति है। क्योंकि उस उत्पत्ति में भी मानसिक प्रभावों की यह भिन्नता उपस्थित होगी।

एक जड यन्त्र और जीवित शरीर में बड़ा भारी भेद है। जब किसी यन्त्र को चला दिया जाय तो वह सदैव एक ही प्रकार से चलता है और उसकी चाल में अड़चन पड़ने से बन्द हो जाता है। परन्तु जब कोई जीवित शरीर कार्य क्रम में किसी अड़चन में पड़ता है तो वह ठहरता नही वरन् उससे पार हो कर अभीष्ट पदार्थ तक पहुचने का प्रयत्न करता है। यह विवेक युक्त दृढ़ाग्रह जीवित शरीरों का विशेष गुण है। यदि किसी यन्त्र का काम करने वाला कोई भाग बिगड़ जाय या निकाल लिया जाय तो सम्पूर्ण यन्त्र बन्द हो जाता है, परन्तु शरीर के किसी विशेष भाग पर आघात होने से मृत्यु होना आवश्यक नहीं। इसके अतिरिक्त यन्त्र के भागों पर भी प्रभाव पड़ना

सम्भव है, परन्तु जीवित शरीर में सम्पूर्ण शरीर ही प्रभावित होता है। यन्त्रों में ऐसा ऐक्यभाव नहीं होता जैसा जीवित शरीरों मे। और फिर अद्भुत बात यह है कि यन्त्र स्वय जीवात्मा की प्रयोजनयुक्त क्रियाओं के फल हैं।

मानसिक शक्ति शरीर से स्वतन्त्र ही नहीं वरन् उसके विरुद्ध भी कार्य कर सकती है। यह उस समय प्रत्यक्ष हो जाता है जब हम जान बूझ कर धर्मानुसार कार्य करते हैं। यद्यपि हमारी शारीरिक इच्छाये हमें दूसरी ओर आकर्षित करती हों, और हमारे दुष्कर्म को कोई देखने वाला भी न हो, और न हम को अपने धर्म कार्य से यश प्राप्ति की आशा हो, फिर भी हम धर्मानुसार कार्य करने का प्रयत्न करते हैं। हमको अपनी इच्छाओं का विरोध करने मे बड़ा कष्ट करना पड़ता है और हम करते हैं। यह सत्य है कि धर्म सम्बन्धी विचारों की उपलब्धि हमें बाहरी समाज से होती है परन्तु केवल विचार में क्रिया शक्ति नहीं है। इस विचार के अनुसार कार्य करने की इच्छा हमारी शारीरिक इच्छाओं की महान् शक्ति के विरुद्ध कदापि फलीभूत न होती यदि हम उसके साथ अपने दृढ सङ्कल्प का सयोग न करते। और फिर हमारे विचारों के सङ्गठन में भी जीवात्मा की ग्रहण शक्ति कार्य करके व्यक्तिगत विशेषताओं को उत्पन्न करती है।

प्राकृतिक प्रभावों के एक ही समूह का पृथक् पृथक् पुरुषों पर भिन्न भिन्न प्रभाव पड़ना सहचर सिद्धांत के बहुत कुछ विरुद्ध तो है ही परन्तु मृत्यु के समय मानसिक शक्तियों का पूर्णतया अभाव तो उसको निर्मूल ही कर देता है। उस समय चैतन्याद्वैत वस्तु की एक दशा तो दृष्टिगोचर होती है, परन्तु उसकी सहचरी दूसरी दशा का कहीं पता नहीं है जिससे सिद्ध

होता है कि दोनों दशाओं का एकत्रित न होना सम्भव है। यदि इसका कारण किसी ऐसी वस्तु का अभाव है कि जिसका शरीर भी शरीर के समान तत्वों से बना हो परन्तु हो वह शरीर से स्वतन्त्र, तो भी जीवात्मा का पृथक् होना सिद्ध होता है यद्यपि उसका शरीर भी विस्तृत्व गुण से युक्त है।

और फिर प्रथम तो मेरी सत्यता के सिद्ध करने की आवश्यकता ही नही है। और सब वस्तुओं की सत्यता का प्रमाण मुझे सन्तुष्ट करने वाला होना चाहिये। परन्तु मेरा "मुझ" से क्या प्रयोजन है? क्या इसका अर्थ शरीर है जिसको में देखता हू और जिसको मैं अपना शरीर कहता हू और जिसके अगों मे मैं मेरे हाथ, मेरे पैर, मेरा मस्तक, मेरी रीढ की हड्डी, मेरी आख, मेरे कान ऐसा अभिमान करता हू? प्रत्यक्ष में ऐसा नही है क्योंकि यह वह वस्तुएं हैं जिनका अधिकार मुझे है। मैं उनका स्वामी हू। इस लिये वह और मैं एक नहीं हैं। मेरी उपस्थिति के स्पष्ट चिन्ह क्या है? मैं विचार करता हू। मैं समझता हू। मैं हस्त-व्यापार करता हू। मैं स्मरण करता हू। मैं अविष्कार करता हू। मैं सकल्प करता हू। मैं देखता हू। मैं सुनता हू। मैं करता हू इत्यादि। यदि मैं देखना व सुनना न चाहू तो मेरी आखें नहीं देख सकती और मेरे कान नही सुन सकते। यदि मैं सोना चाहू तो मेरा मस्तिष्क विचार नहीं कर सकता। मैं स्वप्न देखता हू परन्तु वह विचार करना नही है। मस्तिष्क की अनिच्छित क्रिया मुझे गाढ़ निद्रा से वर्जित रख सकती है जैसे कि कोई बडा कष्ट मेरे हाथ को बिना मेरी इच्छा के विचलित कर देता है। इन सब में 'मैं' निर्बाधित कर्ता हू। मैं यह कभी नही कहता कि मेरी आखें देखती हैं। मेरे कान सुनते हैं। मेरा शरीर सोता है या कि मेरा मस्तिष्क विचार करता है इत्यादि।

स्वप्न में भी यदि मैं सब कार्य्य क्रम मस्तिष्क पर ही छोड दूं तो दृश्य असंगत, बेढंगे और धुंधले हो जाते हैं। और यदि स्वप्न में मैं लेश मात्र भी इच्छा वा सकल्प करूं तो मेरा स्वप्न का ससार तत्काल पहले से अधिक स्वच्छ और सप्रयोजन हो जाता है। जो कार्य्य क्रम मुझसे इतना स्वतन्त्र प्रतीत होता है वहां पर भी मेरा कैसा अधिकार है!

स्मृति में अविच्छिन्नता का अनुभव कौन करता है? यह बोध मुझे कैसे होता है कि अमुक वार्ता भूत काल की है जिस का अनुभव मुझे उस समय हुआ था? यह सत्य है कि विचार करने में मैं उन्ही विचारों को उलटता पलटता रहता हूं कि जिनको मैंने पहले से प्राप्त कर लिया है परन्तु मैं नये नये सिद्धांतों को कैसे स्थिर करता हूं? और मेरा यह उलटना पलटना भी विवेकयुत कैसे होता है कि जिससे प्रत्येक विचार को उसके प्राकृतिक अनुकरण के बदले प्रयोजनानुसार यथोचित सम्मान देता हूं? यह सत्य है कि बाल्यावस्था में मैं वह सब कर्म नहीं कर सकता जो युवा अवस्था में कर सकता हूं। यद्यपि उस समय मेरी शक्तियां पूर्ण नहीं होतीं परन्तु मेरी व्यक्ति रूप दशा मे कोई विक्षेप नहीं पडता। जब मैं गाढ़ निद्रा में होता हूं अथवा सज्ञा हीन होता हूं तो क्या मेरी इन्द्रियां वैसी अल्प शक्ति होती हैं अथवा मेरी जीवात्मा वैसी शक्ति हीन होता है जैसा कि बाल्यावस्था में होना कहा जाता है?

इसके अतिरिक्त शरीर के जीवित रखने के लिये किस अंग की आवश्यकता है? जब मस्तिष्क क्लोरोफोर्म से क्रिया हीन हो जाता है फिर भी शरीर जीवित रहता है। जब शरीर की सम्पूर्ण क्रियायें शांत हो जाती हैं तब भी हृदय कुछ समय तक

कार्य्य करता रहता है। यदि हृदय का चलना बन्द हो जाय तो अकस्मात् मृत्यु हो जाती है। परन्तु आज कल मनुष्यों को उनके हृदय की चाल को फिर सञ्चालन करके जीवित कर दिया गया है। ऐसा एक विवरण छप चुका है कि * एक स्त्री का हृदय चलना बन्द हो गया था परन्तु अपने खोये हुए पुत्र के प्रेम ने उसे जीवित रखा। वह बात चीत करती रही और शनै. शनै हृदय फिर चलने लगा। इससे सिद्ध होता है कि जीवात्मा की स्थिति शरीर के सङ्गठन पर पूर्णतया निर्भर नहीं है।

यदि मृत्यु का कारण किसी शारीरिक पदार्थ का अभाव है तो उस पदार्थ के प्रविष्ट करने से पुनर जीवन सम्भव होना चाहिये। वास्तव में जीवित और निर्जीव पदार्थों के भेद का कारण क्या है यह कोई भी नही कहता केवल क्रिया शक्ति के भेद का अनुभव किया जाता है। जिस हिसाब से जड पदार्थ जीवित शरीर में पाये जाते हैं उसी हिसाब से मिला कर यदि पृथक् एक पुतला बनाया जाय तो भी वह जीवित नहीं हो सकता। अतएव जीवन शक्ति जड पदार्थों के किसी विशेष सयोग का परिणाम मात्र नही हो सकती।

पश्चिम में सर औलीवर लौज जैसे विज्ञानवेत्ता शरीर रहित जीवात्माओं का प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं। भारतवासियों के लिये तो जीवात्मा की पृथक् स्थिति स्वय प्रमाणित है। कहा जाता है कि आत्मा की उन्नति होते २ एक समय वह आता है जब योगी को अपने पूर्व जन्मों का वृत्तांत ज्ञात हो जाता है। योग कोई कल्पित सिद्धांत नही है किन्तु अनुभवगम्य व परीक्षा किये हुये सिद्धातों का समूह है।

---

*इसदेवी का हाल ६ जुलाई सन् १९२२के "लीडर" के नवें पृष्ठ पर छपा है।

सृष्टि मे जीवन रक्षा के लिये एक प्रकार का निरन्तर सग्राम होता रहता है। जो जीवधारी कठिनाइयों को जीत कर अपने जीवन को अपनी दशाओं के उपयुक्त बना लेता है वही अपनी इष्ट सिद्धि में फली भूत होता है। परन्तु यह विवेक और सङ्कल्प के बल से ही हो सकता है। इन मानसिक शक्तियों का इतना अधिक प्रभाव है कि यह केवल मानसिक वृत्तियों में ही नही किन्तु शारीरिक सङ्गठन में भी परिवर्तन कर देती हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि जीवात्मा अपनी शक्तियों के पूर्ण प्रकाश के लिये शरीर को यथोचित बना लेता है। और जीवात्मा का शरीर के सङ्गठन का परिणाम होने के बदले शरीर सङ्गठन ही जीवात्मा की इच्छा के अनुकूल प्रतीत होता है।

यह प्रश्न भी हो सकता है कि जब हमारी शक्तिया व स्वभाव हम को अपने माता पिता से मिलते हैं तो इसका क्या कारण है कि कुछ सन्तान माता पिता से विरुद्ध स्वभाव वाली होती है? और एक ही माता पिता के दो पुत्र मानसिक स्वभावों, धार्मिक विचारों और शारीरिक दशाओं में भी भिन्न भिन्न देखे जाते हैं।

एक परम विचारणीय बात और है। यदि यह मान भी लिया जाय कि हमारी मानसिक शक्तिया हमारे शरीर के सङ्गठन का ही परिणाम हैं तब भी यह प्रत्यक्ष है कि हमारा मन अत्यन्त सूक्ष्मता से मिश्रत और सङ्गठित कोई वस्तु है। वृहत स्मृतिया, तीव्र इच्छाएँ, राग द्वेष, गम्भीर सिद्धात, प्रबल बुद्धि आदि सब मन में सङ्गठित हैं। इस कारण मृत्यु से पूर्व ही यह सङ्गठन नष्ट हो जाना चाहिये और यह शक्तिया व वृत्तिया व्यय हो जानी चाहियें। कहा जा सकता है कि बुढापे में यही होता है। परन्तु जब कोई मनुष्य अपनी पूर्ण शक्तियों के होते हुए

भी हृदय के बन्द होने से मर जाता है तब उसके मन की क्या दशा होती है ? उसकी शारीरिक शक्ति तो अवश्य क्षीण हुई परन्तु वही बात उसकी मानसिक शक्तियों के सम्बन्ध मे नही कही जा सकती।

वास्तव में जड और चैतन्य के इस वाद विवाद का कारण हमारी पूर्व प्रवृत्तियों का पक्षपात है। हम जड और चैतन्य के गुणों मे पूर्णतया वैमनस्य समझते हैं। इसलिये यदि जड प्रकृति में विस्तृत्व का गुण है तो जीवात्मा में, जो इसके विरुद्ध गुण वाला है विस्तृत्व नही हो सकता। इस कारण अद्वैतवादी जड प्रकृति या चैतन्य आत्मा दोनों मे से एक ही की सत्यता को मानते हैं। अतएव जहा प्रकृतिवादी प्रकृति से विरुद्ध गुण वाली किसी वस्तु की सत्यता को मानने के लिये तैय्यार नही है और जीवात्मा की पृथक् स्थिति को निर्मूल करने के लिये विवेक विरुद्ध युक्तियां देते हैं तहा चैतन्यवादी भी ससार को त्रिकाल में असत्य तथा केवल मन की कल्पना सिद्ध करने के लिये बडे अद्भुत विचार प्रकट करते हैं।

नवीन वेदान्ती कहते हैं कि जिस प्रकार अन्धकार में पडी हुई रस्सी में हमको सर्प भासता है, परन्तु जब प्रकाश होता है तब हमें ज्ञात होता है कि वहा सर्प न कभी था और न कभी होगा, जिस प्रकार हमको अपने स्वप्न के ससार मे अनेक पदार्थ विना किसी आधार के भासते हैं, इसी प्रकार यह ससार भी झूठा है। यह ससार न कभी था न है और न कभी होगा। यह हमारा केवल अज्ञान है, जिससे कि यह ससार हमको भासता है। सत् वस्तु केवल दिव्य आत्मा परब्रह्म है और हम उसके प्रतिबिम्ब हैं। परन्तु यदि उस रस्सी के पास हम पत्थर का एक टुकडा रख दें तो हमें सर्प के पास

मेढ़क और दीखने लगेगा। यहां पर विचार करने की बात यह है कि यद्यपि हमें सर्प और मेंढक वहां दिखाई पड़ेंगे जहां कि यथार्थ में वह नही हैं, परन्तु सर्प और मेंढक की भिन्नता कल्पित नही है। वरन् इस भिन्नता का आधार सत्य वस्तु रस्सी और पत्थर की भिन्नता है। इसी प्रकार यद्यपि हम संसार के विविध पदार्थों को उनके यथार्थ रूप मे न देखते हों परन्तु हम यह अवश्य कह सकते हैं कि उनकी भिन्नता निर्मूल नही है। एक पद और चलिये और ऐसी दशा का विचार कीजिये कि जिसमें मिट्टी की रस्सी सी और मिट्टी का ही पत्थर के टुकडे जैसा बना कर अन्धेरे में रख दिया जाय तो यह दोनों सत्य वस्तु भी रूप में तो भिन्न होंगी परन्तु पदार्थ में एक होंगी। इसी प्रकार यह ससार भी पदार्थ में एक रहते हुए भी रूप में—दोनों रूपों में जो हमको दोखते हैं वह और जो यथार्थ हों उनमें भी—भिन्नता रख सकता है। इस प्रकार स सार की भिन्नता कल्पित नहीं हो सकती।

यदि हम स्वप्नों पर सूक्ष्म विचार करे तो हमें ज्ञात होगा कि स्वप्न के दृश्य बाइसकोप की तसवीरों के सदृश होते हैं। ऐसा भासता है जैसे कि हमारी दृष्टि स्वप्न में न तो इतनी दूर जाती है और न इतनी स्वच्छ होती है जितनी कि जागृत् अवस्था में। हमारी अपनी चैतनता भी इतनी तीव्र नही होती और सारे दृश्य में कुछ धुंधलापन सा होता है। कभी कभी हम स्वप्न में ही किसी कार्य्य के करने वा हो जाने की इच्छा करते हैं। और वह कार्य्य होता हुआ हमको दीखता नही, परन्तु हमको ऐसा भासता है कि मानो वह कार्य्य हो गया। जैसे कि यदि स्वप्न में हम पर कोई आक्रमण करे और हमको बचने की कोई सम्भावना न हो और यदि उस समय स्वप्न में ही हम ऐसी

दशा का विचार करने लगें कि जिसमें हमारे बचने की सम्भावना हो तो हमको ऐसा अनुभव होता है कि जैसे बिना उस दशा के प्रत्यक्ष में हुए ही हम उस प्रकार बच आये हों। ऐसी ही दशा हमारी ऊघने या अर्धनिद्रा में होती है। परन्तु यह कोई न कहेगा कि ससार केवल चित्र के समान है। स्वप्न और ससार की इस प्रकार तुलना नही हो सकती। स्वप्न और चित्त दोनों ही केवल प्रदर्शन मात्र हैं और ससार सत्य वस्तु है।

स्वप्न हम जीवधारियों का भी देखते हैं। परन्तु यथार्थ में उनकी सत्ता वहा नही होती। तो क्या ससार के जीवधारी भी ऐसे ही असत्य होते हैं, जैसा कि जड पदार्थों के लिये कहा जाता है? ऐसी दशा में तो ससार की किसी वस्तु, जड व चैतन्य, के लिये भी आधार वस्तु की आवश्यकता नहीं है और दिव्य आत्मा पर ब्रह्म की सत्ता भी अनावश्यक और अनिश्चित हो जाती है। इस प्रकार जड और चैतन्य दोनों की सत्ता ऐसी हो जाती है मानों वे कभी हुए ही नही! मैं अपने आपको भी स्वप्न में चलते फिरते कार्य करते देखता हू। अस्तु मेरी सत्ता भी असत्य होनी चाहिये! युक्ति युक्त सिद्धांत का कार्य्य ससार की प्रत्यक्ष बातों के भेद को समझाना है और यदि वह उनको असत्य ही कह दे तो—उसकी शाब्दिक रचना तर्क सगत हो अथवा न हो—व्यर्थ है। ऐसे शाब्दिक तर्क का कोई वास्तविक अर्थ नही और उसका परिणाम केवल सत् मार्ग से भ्रष्ट होना है।

इसके अतिरिक्त दृष्टात किसी प्रमाणित विषय में उदाहरण देकर उसको अच्छी तरह समझान के लिये ही दिया जा सकता है। दृष्टात स्वय प्रमाण नही है। फिर हम यह कैसे सिद्ध करते

हैं कि संसार में किसी प्रकार की भी सत्यता नहीं है। कोई वस्तु किसी विशेष रूप को किसी थोड़े से समय के लिये ग्रहण कर सकती है परन्तु इसका अर्थ यह कभी नही होता कि वह रूप कभी हुआ ही नहीं अथवा यह कि उस वस्तु ने उस रूप को कभी ग्रहण ही नहीं किया।

एक और प्रश्न यह है। वेदान्ती कहते हैं कि इस असत्य संसार के सत्य सा प्रतीत होने का कारण हमारा अज्ञान वा अविद्या है। जब यह अविद्या दूर होती है तो जीवात्मा को ज्ञान होता है और वह यथार्थ रूप को देखता है। परन्तु इस ज्ञान का प्राप्त करना शरीर की सहायता से ही सम्भव है। इसी की सहायता से हम ज्ञानी पुरुषों का सत्सङ्ग करते हैं, पुस्तक पढ़ते हैं, योगाभ्यास करते हैं और सत्य को प्राप्त करते हैं। यह शरीर असत्य संसार का ही एक पदार्थ है, अतएव यह भी असत्य व निर्मूल है। कदाचित् इसकी भी कोई सत्ता नहीं और इसका भास हमारे अज्ञान से ही होता है। परन्तु एक असत्य व निर्मूल वस्तु जीवात्मा को सत्य ज्ञान के प्राप्त करने मे सहायता कैसे दे सकती है? यह मानते हुए भी कि क्रिया-शक्ति शरीर की नहीं, वरन् जीवात्मा की है यह प्रश्न होता है कि जीवात्मा को अपनी शक्तियों के प्रकट करने के लिये किसी असत्य वस्तु की आवश्यकता क्यों हुई? वस्तुतः वह भी जो अपने को जीवन् मुक्त कहते हैं खाते हैं, सोते, हैं, पीते हैं, शौच करते हैं और इस प्रकार सर्व कार्य्य करते हैं। जिन्होंने सत्य रूप को देख लिया है उन्हें इन कर्मों की क्या आवश्यकता? वह कहते हैं कि शरीर अपने स्वभाव का पालन करता है। परन्तु बिना जीवात्मा के शरीर में कुछ भी करने की शक्ति नहीं क्योंकि वह तो असत्य, निर्मूल व

न होने के समान है। जब जीवात्मा शरीर को छोड़ देता है और मृत्यु हो जाती है तब शरीर कुछ भी नहीं कर सकता। फिर वह कहते हैं कि जीवात्मा अपने पूर्वजन्मों के संस्कारों को भोगता है। परन्तु यह संस्कार कहां से आये और कैसे यह भोगे जा सकते हैं? असत्य संसार में हुए कार्य्य भी असत्य होंगे। यदि रेल अथवा किसी आटे की चक्की की क्रिया असत्य है तो शरीर की भी असत्य होगी। ऐसी क्रिया का अथवा किसी भी क्रिया का जो असत्य शरीर के द्वारा हो, प्रभाव जीवात्मा पर संस्कार रूप से कैसे हो सकता है? यह सम्भव ही कैसे हुआ?

और फिर यह अविद्या कहां से आई? यदि यह अनादि है तो अनन्त भी होगी। ऐसी दशा में इसका उद्भव वा नाश कुछ भी नहीं हो सकता। इस लिये मुक्ति व निर्वाण की बात चीत ही व्यर्थ है। ज्ञान प्राप्त करने, धर्म कार्य्य करने, पापों से बचने, सत्सङ्ग करने अथवा किसी भी कार्य्य करने का कोई प्रयोजन नहीं। यदि यह अविद्या परब्रह्म से पृथक् रहती है और कभी कभी उसको आवृत कर लेती है तब तो यह बड़ा अद्भुत है वरन् दिव्यात्मा परब्रह्म से भी अधिक आश्चर्य जनक वस्तु है क्योंकि यह उसे भी ढक देती है। इस के अतिरिक्त इन दोनों में से किसी की भी स्वतंत्र सत्ता दूसरी वस्तु को भी परिमित कर देगी और उनमें से कोई भी अपरिमित वा सर्व व्यापक न हो सकेगी। फिर, इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध किन नियमों पर है? क्या उन नियमों को नियत करने के लिये कोई और तीसरी सत्ता है? और यदि अविद्या स्वतन्त्र सत्ता वाली नहीं है वरन् केवल गुण मात्र है, तो कोई आधार भी होगा कि जिसका यह गुण है, क्योंकि

गुण की निराधार स्वतन्त्र सत्ता नहीं हो सकती। यदि वह आधार दिव्यात्मा परब्रह्म है तब तो दोनों एक ही वस्तु हैं और फिर अविद्या का कोई अन्त हो ही नहीं सकता और न उससे मुक्ति ही हो सकती है। परन्तु वह उत्तर देंगे कि अज्ञान, अविद्या व माया का आदि तो नही, परन्तु अन्त अवश्य है। इस कारण जीवात्मा की मुक्ति असम्भव नहीं है। जब कि अविद्या किसी में अन्त को प्राप्त होती है उसी समय वह और जीवों में उपस्थित भी होती है। इस कारण जहां तक हमारे ज्ञान की शक्ति जाती है उसका पूर्ण अन्त नहीं होता। परन्तु उन व्यक्तियों में जिनमें कि वह नष्ट हो जाती हैं फिर नहीं व्यापती, कारण यह कि उसका आदि नही है। इसका अर्थ तो यह हुआ कि व्यक्तिरूप जीवात्मा जिनमें अनादि अविद्या मिली हुई है स्वय अनादि हैं, परन्तु ऐसा मानने पर बहुत सी समस्याएँ खडी हो जाती हैं। यह अनादि जीवात्मा परब्रह्म से स्वतन्त्र होने चाहिये और सत्य सत्ता एक नहीं किन्तु असख्य होंगी। क्योंकि ऐसी दशा में सब का एक अपरिमित तत्व न हो सकेगा। इससे आकार और रूप की उपाधियां उत्पन्न हो जांयगी और वेदान्त के सम्पूर्ण सिद्धात पर पानी फिर जायगा। दूसरे अब यह नही कहा जा सकता कि अविद्या के नाश होने पर जीवात्मा परब्रह्म में लीन हो जायगा। यह तो तभी हो सकता है जब जीवात्मा और परब्रह्म दोनों पूर्व से ही एक हो और फिर पीछे से अविद्या आवृत कर ले। परन्तु ऐसी दशा में अविद्या का भी आदि होगा। अतएव जब जीवात्मा सदैव ही परब्रह्म से पृथक् है तब उस भिन्नता का नाश नही हो सकता। तीसरे अविद्या के आदि न होने से मुक्त जीवात्मा फिर बन्धन में नहीं आ

सकता तो फिर नवीन बन्धन में पड़े जीवात्मा कहा से आवेंगे ? अथवा सम्पूण अविद्या सम्पूर्ण सृष्टि सहित कभी भविष्य में अन्त को प्राप्त होकर फिर उदय न होगी !

दूसरी ओर एक पाश्चात्य दार्शनिक नि.शङ्क भाव से कहता है कि यह सम्पूर्ण संसार केवल कल्पना मात्र है। मैं विस्तृत्व का ध्यान बिना किसी विशेष आकार व रूप व विस्तृत्व वाली वस्तु के ध्यान किये नहीं कर सकता। यह सब मन में चित्रित मूर्त्तिया मेरी कल्पना मात्र ही हैं। अत-एव विस्तृत्व मेरी इन कल्पनाओं के विना कोई सत्ता नहीं रख सकता। इस प्रकार सब बाह्य वस्तुएँ भी किसी न किसी आत्मा की, चाहे वह मैं हू अथवा कोई और हो, कल्पना मात्र हैं। यह बाह्य कल्पना–आकार, रग आदि– मेरी दृष्टि की भिन्न भिन्न दशाओं में भिन्न भिन्न सरूपों को प्राप्त होते हैं। जैसे किसी वस्तु से दूर होने पर वह छोटी प्रतीत होती है, जो आकार व रूप कि सूक्ष्म दर्शन यन्त्र से भासता है वह केवल नेत्रों से नहीं दीख पडता। किसी किसी मनुष्य को रग दीख नही पडते, यह उदाहरण हैं। मेरी अनुपस्थिति मे वस्तुओं की स्थिति और उनकी सत्ता के निरन्तर भासने का कारण यह है कि मेरे अतिरिक्त और भी जीवात्मा उनके द्रष्टा हैं। इस समय उनमे जो परि-वर्तन हुआ प्रतीत होता है उसका कारण दूसरे जीवात्माओं का उन पर क्रिया करना है, परन्तु ऐसी क्रिया से उन वस्तुओं में कोई स्वतन्त्र सत्ता नही आ सकती। मैं स्वप्न में भी कार्य्य करता हू, परन्तु इससे स्वप्न स्वतन्त्र आधार वाले नही हो सकते। यह सत्य है कि वाह्य कल्पना मेरे मन की अन्तरीय कल्पनाओं से अधिक स्पष्ट व स्थिर प्रतीत होती हैं, इसका

कारण यह है कि यह बाह्य कल्पना पूर्णात्मा, जो पूर्ण और अद्वितीय है, की हैं। मैं दूसरे अल्पज्ञ जीवात्माओं को उनकी अपने आपसे समानता होने के कारण पहचानता हू और उनको सत्य वस्तु समझता हू। जीवात्मा में विस्तृत्व नहीं है वरन् चैतन्यता है। इस कारण उसकी कल्पनाओं में भी विस्तृत्व नहीं हो सकता। अस्तु विस्तृत्व वाली जड वस्तु प्रकृति की कोई भी सत्ता नही है अर्थात् किसी यथार्थ वस्तु मे विस्तृत्व नही हो सकता।

परन्तु यह सिद्धात मूल प्रश्न को पूर्णतया बचा जाता है। यह जीवात्मा का विस्तृत्व से रहित होना सिद्ध नही करता। केवल यह बतलाता है कि हम जीवात्मा को देख नही सकते जैसे कि हम आकाश स्थित सूक्ष्म वायु "ईथर" को नही देख सकते, परन्तु हमारे देखने की शक्ति न होने से जीवात्मा का विस्तृत्व से रहित होना सिद्ध नही होता। हमारे न देख सकने का कारण हमारी अपनी निर्बलता हो सकती है। वास्तव मे जिस क्षण हम विस्तृत्व को कल्पना कहते हैं उसी क्षण हम यह स्वीकार करते हैं कि विस्तृत्व व जीवात्मा मे कुछ न कुछ समानता है। यदि विस्तृत्व जीवात्मा से पूर्णतया विरुद्ध होता तो हम किसी विस्तृत्व आकार व रूप वाली वस्तु की कल्पना भी न कर सकते। यह सिद्ध करने का तो बडा प्रयत्न किया है कि सब वस्तु कल्पना मात्र हैं, परन्तु यह सिद्ध करने का लेशमात्र भी प्रयत्न नहीं किया कि कल्पना विस्तृत्व से रहित हैं और सारा झगड़ा यही है।

इसके अतिरिक्त हमारी मानसिक कल्पना इन बाह्य वस्तुओं से पूर्णतया भिन्न हैं। यह भिन्नता मात्रा की नही किन्तु

गुण की है। हमारे मन में चित्रित कल्पना यथार्थ में चित्र-रूप ही नहीं होतीं। आख बन्द करके जब हम किसी वस्तु का ध्यान करते हैं तो उस वस्तु का कोई चित्र नही खिचता, किन्तु हम केवल यह समझ लेते हैं कि अमुक वस्तु इस आकार व रूप की है। अतएव यह सिद्ध नही होता कि जब वह वस्तु हमारे खुले हुए नेत्रों के सम्मुख होती है तब भी उसमे कोई सत्यता नहीं।

स्वप्न में दृष्टि का विस्तार इतना कम होता है, समय और स्थान ऐसे उडते हुए व बदलने हुए प्रतीत होते हैं कि स्वप्न और बाह्य ससार में तुलना नही हो सकती। स्वप्न में मैं जीवित मनुष्यों को और अपने आप को भी देखता हू। तो क्या मैं तथा अन्य मनुष्य भी कल्पना मात्र हैं? मेरी जागृत अवस्था की चेतनता स्वप्नावस्था की चेतनता से अधिक स्वच्छ व तीव्र होती है और अन्य मनुष्य भी स्वप्न के मनुष्यों से अधिक स्थिर व सत्य प्रतीत होते हैं; तो क्या इसका कारण यह है कि वह और मैं दोनों ही पूर्णात्मा की कल्पना मात्र हैं?

मैं दूसरे जीवधारियों को अपने समान होने से पहचानता हू। परन्तु ऐसे जीवधारी भी हैं जिनमें वह समानता नहीं पाई जाती, जैसे कि एमीबा की क्रियाएँ मेरी क्रियाओं से भिन्न हैं। वनस्पति दूसरा उदाहरण है। एमीबा व वनस्पति में जीवात्मा है या नहीं?

परमात्मा पूर्ण है इस लिये उसकी दृष्टि भी पूर्ण है। जिस वस्तु में हमें चार पार्श्व दीखते हैं उसके यथार्थ स्वरूप मे उस को छै दीख सकते हैं। जैसे कि मक्खी का पङ्ख नेत्रों की अपेक्षा सूक्ष्मदर्शन यन्त्र से अधिक अच्छा दीखता है, परन्तु

यह भेद मात्रा का है। हम ऊपर देख चुके हैं कि परमात्मा की कल्पनाओं का जैसा अल्प अनुभव हमको होता है, अर्थात् सासारिक पदार्थ जैसे भी हमको दीखते हैं, उनसे भी हमारी कल्पना गुणों के विचार से भी भिन्न हैं। तो क्या इसका अर्थ यह है कि अल्प और पूर्ण आत्माओं में भी केवल मात्रा का ही नही किन्तु गुण का भी भेद है? ऐसी दशा में जहा यह कहा जाता है कि अल्प जीवात्मा में विस्तृत्व नहीं है, वहा परमात्मा में इसके विरुद्ध गुण हो सकता है। और ऐसे भिन्न गुण वाले परमात्मा की कल्पनाओं में विस्तृत्व का गुण हमसे स्वतन्त्र व सत्य हो सकता है।

हमारे मन की कल्पना बाह्य वस्तुओं के चित्र कहे जाते हैं। तो क्या यह बाह्य वस्तु परमात्मा के भी मन में किन्हीं और बाह्य वस्तुओं के—जो कि और अधिक सामर्थ्यवान् आत्मा की कल्पनाएँ हैं—चित्र हैं? यदि ऐसा है तब तो इस श्रेणी का कहीं अन्त नही है। नही तो यह प्रत्यक्ष है कि बाह्य वस्तुएँ, केवल कल्पना रूप चित्र नही हैं वरन् सत्य वस्तुएँ हैं जो अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखती हैं।

पूर्णात्मा एक कल्पित वस्तु है। हम उसके रूप, सङ्गठन, शक्ति, धर्म और उसका जीवात्माओं से जो सम्बन्ध है उसको नहीं जानते और न हम यह ही जानते हैं कि वह ससार को कैसे उत्पन्न करता है। यह सब बातें हमारे ज्ञान से परे हैं। परन्तु क्या इस प्रकार उसकी स्थिति को कल्पित करके उन वस्तुओं को, जिनको हम बाह्य कल्पना कहते हैं, स्वतन्त्र सत्ता को न मानने के लिये हमें युक्ति मिल जाना पर्य्याप्त नहीं है।

यदि कोई और आत्मा ससार को देखने वाली न हो तो जिस समय मैं गाढ़ निद्रा में होता हू उस समय संसार की

कोई सत्ता न रहे। जब मैं गाढ निद्रा में अथवा संज्ञा हीन होता हू तब मेरी भी सत्ता क्या इसी कारण रहती है कि कोई और आत्मा मुझे देखता है या मेरी चेतनता को अनुभव करता है? नहीं तो मेरी निरन्तर सत्ता का क्या कारण है?

हम एक फुट को इञ्च से नापते हैं। सूक्ष्मदर्शन यन्त्र में फुट व इञ्च दोनों ही बढ जाते हैं, परन्तु उन दोनों का परस्पर सम्बन्ध एक ही रहेगा। इससे सिद्ध होता है कि परिवर्तन हमारी दृष्टि की शक्ति में है वस्तुओं के आकार में नहीं है।

यदि विस्तृत्व केवल कल्पना ही है और इस कारण आध्यात्मिक है तब तो चैतन्यवाद और प्रकृतिवाद में कोई वास्तविक विरोध ही नही रहता। जो जड प्रकृति का गुण समझा जाता है वह आध्यात्मिक उपाधि हो जाती है। और यदि विस्तृत्व पूर्णतया असत्य है तो सत्य सत्ता में असत्य सत्ता कहा से आ गई। इसके अतिरिक्त यदि वह अपरमित परमात्मा सर्वव्यापक है तब वह पदार्थ व कल्पना सब ही में व्यापक होगा इस कारण रूप, आकार व विस्तृत्व भी उससे पृथक् नहीं हो सकते। व्यापकता का सिद्धांत ही विस्तृत्व को सिद्ध करता है।

एक दूसरे दार्शनिक का मत है कि स्थान व समय दोनों मन की क्रिया के स्वाभाविक रूप हैं। इसी कारण प्रत्येक वस्तु के ज्ञान में इनका होना आवश्यक है। अतएव वस्तुओं का स्वरूप मन के इन दोनों स्वाभाविक गुणों से रगा रहता है। इसी कारण हम उनके यथार्थ स्वरूप को नही देख सकते और सम्भव है कि वह यथार्थ स्वरूप इस स्वरूप से पूर्णतया

भिन्न हो। परन्तु स्थान व समय का सहजज्ञान विषय होने से यह सिद्ध होता है कि वह ऐसी सत्य वस्तु हैं कि उनको अपनी सत्यता की सिद्धि के लिये किसी और प्रमाण की आवश्यकता नही है। इसका तात्पर्य्य यह नही है कि यह केवल मानसिक वृत्तिया हैं। वास्तव मे यह कहा जा सकता है कि स्थान और समय और अपनी आत्मा में किसी समानता के कारण मैं विचार व तर्क शक्ति के उदय से पूर्व ही बिना किसी झिझक के उन्हें स्वीकार कर लेता हू।

वह कहते हैं कि विचारात्मक बुद्धि इन भ्रमात्मक स्वरूपों के ज्ञान को प्राप्त करती है और क्रियात्मक बुद्धि आत्मा व परमात्मा को स्वतन्त्र सत्ता वाली वस्तु सिद्ध करती है। क्योंकि मेरे प्रत्येक कार्य्य में उनकी स्वीकृति होती है। मैं तर्क से इसको सिद्ध न कर सकूं, परन्तु मेरी क्रियात्मक बुद्धि जो विचार विषयक से अधिक निश्चयात्मक है उनकी सत्ता की ओर संकेत करती है। इसमें तो सन्देह है कि क्रियात्मक बुद्धि परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करती है, परन्तु इसमें लेशमात्र भी सन्देह नही कि इसमें स्थान और समय की सत्ता की स्वीकृति अवश्य है। मैं स्थान और समय की सत्ता को मानते हुए केवल विचार ही नही करता किन्तु कर्म्म भी करता हूं। यह मैं अपनी ज्ञान इन्द्रियों की शक्ति के चेतन होने से पूर्व ही करता हूं। क्योंकि नवोत्पन्न शिशु जब हाथ पैर हिलाता है तब ही इनको स्वीकार कर लेता है। स्थान और समय क्रिया के लिये इतने ही आवश्यक हैं जितना कि जीवात्मा। अतएव स्थान और समय भी ऐसी ही सत्य सत्ता वाले हैं जैसा मैं हू।

अतएव दार्शनिको का एक दूसरा समूह द्वैतवाद को स्वी-

कार करता है। जड प्रकृति और चैतन्य आत्मा दोनों ही सत्य वस्तु हैं जिनकी स्थिति एक दूसरे से स्वतन्त्र है। परन्तु प्रकृति तो जड और जीवात्मा अल्प शक्ति है। दोनों में कोई सा भी इस जटिल व विचित्र ससार को उत्पन्न नही कर सकता और न नियम बद्ध ही कर सकता है। इस कारण ईश्वर जो सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् तथा सर्वज्ञ है, प्रकृति और जीवात्मा को मिला कर सृष्टि की रचना करता है। यह तीनों अनादि व अविनाशी हैं। इन तीनों की स्थिति एक दूसरे से स्वतन्त्र है, परन्तु उनकी शक्तियां व धर्म भिन्न भिन्न हैं।

और बहुत सी बातो के अतिरिक्त जिन का विचार "ईश्वर" नाम दूसरे पाद में होगा एक जटिल समस्या है जो इस सिद्धात की जड को ही काट देती है। कहा जाता है कि यह पूर्ण परमात्मा सर्वव्यापक है। सर्वव्यापकता का अर्थ यह है कि ससार के सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु में भी उसकी स्थिति है। यदि "अ" "ब" में सर्व व्यापक है तो "ब" केवल "अ" का एक दूसरा स्वरूप है क्योंकि यदि "ब" में "अ" के अतिरिक्त कोई और वस्तु भी है तो "ब" के सब सूक्ष्म से सूक्ष्म स्थानों में केवल "अ" ही नहीं होगा। इस कारण हम "अ" को सर्वव्यापक नहीं कह सकेंगे। इसी प्रकार यह ससार भी ईश्वर का ही एक दूसरा स्वरूप होना चाहिये। यदि कोई और वस्तु भी ईश्वर के समान अनादि व अनन्त है और जिस की सत्ता ईश्वर की सत्ता से स्वतन्त्र है तो ईश्वर सर्वव्यापक नहीं हो सकता। कभी कभी यह कहा जाता है कि ईश्वर इसी प्रकार सर्वव्यापक है जिस प्रकार आकाश आकाशस्थित वस्तुओं में है, परन्तु आकाश केवल स्थान वा अवकाश के अर्थ में कोई पृथक् सत्ता वाली वस्तु नही है। वह तो किसी पूर्व स्थिती

शून्य से क्या प्रयोजन है ? क्या कोई स्थान ऐसा शून्य था जहा पर कि उसको अपनी उपस्थिति नही थी और जिससे उसने संसार को रच दिया ? तब तो वह सर्वव्यापक नहीं है। उसके बाहर आकाश में क्या वस्तु है ? अथवा वह शून्य स्थान में किस प्रकार रहता है ? इन अनेक सितारों की रचना किस समय और कैसे हुई क्या वह सदैव बनाता और बिगाडता रहता है अथवा उसके काम करने का कोई विशेष समय है ? इसके अतिरिक्त शून्य से कोई वस्तु प्रकट भी कैसे हो सकती है ? मन गढन्त तथा युक्ति रहित सिद्धातों से सत्यजिज्ञासा सतुष्ट नहीं हो सकती।

सर्वव्यापकता पर विचार करने से यह तो प्रत्यक्ष होगया कि अद्वैतवाद ही सत्य हो सकता है। यदि ईश्वर की सत्ता को छोड़ भी दे फिर भी प्रकृति और जीवात्मा दो सत्ता रह जाती हैं। यदि यह दोनों परिमित हैं तो उनसे परे अपरिमित वस्तु क्या है ? उस अपरिमित वस्तु का इन दोनों से क्या सम्बन्ध है ? प्रकृति और जीवात्मा के परस्पर सम्बन्ध का प्रबन्ध किस प्रकार होता है और सृष्टि की रचना किस प्रकार हुई ? क्या कोई अपरिमित वस्तु विना सर्वव्यापक हुए अपरिमित हो सकती है ? क्या परिमित परन्तु स्वतन्त्र सत्ता उस अपरिमित को भी परिमित न कर देगी ?

वास्तव में आश्चर्य्य यही है कि दार्शनिकों ने बड़े बडे गम्भीर सिद्धांतो के निश्चय करने में और उनको बडी सूक्ष्म युक्तियों से समर्थन करने में तो इतना कष्ट उठाया, परन्तु जो बात प्रत्यक्ष थी वही न पकडी कि प्रकृति व जीवात्मा में भी समानता है। विवेकानुसार किसी वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता नही हो सकती जब तक कि उसमे अपना विशेष

विस्तृत्व न हो। चैतन्य व आध्यात्मिक शब्दों का प्रयोग विस्तृव से विरुद्ध अर्थों में अर्थ रहित शब्द हैं। गुण, दशा, सम्बन्ध विचार करने की सुगमता के लिये अलग समझ लिये जाय, परन्तु उनकी यथार्थ में कोई सतन्त्र सत्ता नही हो, सकती। ऐसी पृथक्ता में ही उनकी सत्ता विस्तृत्व रहित कही जा सकती है। यदि जीवात्मा भी इसी प्रकार विस्तृत्व रहित है तो वह शरीर का केवल गुण मात्र हो सकता है और शरीर के साथ उसका भी अन्त हो जाना चाहिये। और यदि जो युक्तियां कि जीवात्मा के पृथक् स्थिति को सिद्ध करने के लिये दी जा चुकी हैं वह हमको सतोप जनक हों तो यह मानना पडेगा कि आत्मा में भी अवश्य विस्तृत्व है। उसका स्वरूप क्या है आगे के एक पाद में कहेंगे। परन्तु हमारा उसको न देख सकना उसमें विस्तृत्व न होने का प्रमाण नहीं है। हम और भी वस्तुओं को नहीं देख सकते जिनमें कि हम विस्तृत्व होना स्वीकार करते है जैसे कि वायू, ईथर, परमाणु। कोई कोई कहते हैं कि सत्य सत्ता केवल शक्ति ही की है जो विस्तृत्व को धारण कर लेती है। यदि इसका अर्थ यह है कि शक्ति ही क्रिया करने वाली सत्ता है तब तो यह बात ठीक हो सकती है क्योंकि कोई कार्य्य बिना शक्ति के नहीं हो सकता। और यदि इसका अर्थ यह है कि विस्तृत्व शक्ति से प्रकट हो जाता है तो इसका असम्भव होना प्रत्यक्ष है, सिवाय उस दशा के जब कि शक्ति में ही विस्तृत्व हो चाहे हम उसको देख न सके। जड प्रकृति और चैतन्य जीवात्मा के गुणों में इतनी भिन्नता होने से भी समानता का होना असम्भव नहीं हो जाता। पत्थर गिरता है और वायु ऊपर को चढता है। नियमित तोल का पत्थर आकार में घट

परिस्थिति के सङ्कुचित विचारों से परे जाने का प्रयत्न कर रही है, परन्तु जो ज्ञान की उन्नति में केवल एक महत्व पूर्ण पाद रूप था वह धर्माचार्य्यों के लिये पत्थर की लकीर हो जाता है कि जिससे तनिक भी इधर उधर होने से सीधी सडक नर्क को मिलती है। उसकी शक्ति सीमा रहित है। वह शून्य से ही संसार को प्रकट कर देता है। वह एक तृण के सूक्ष्म से सूक्ष्म स्थान में भी उपस्थित है। उसका ज्ञान अपरिमित है। वह भूत, वर्तमान, भविष्य सब को जानता है।

कोई उसे विशेष व्यक्ति कहते हैं और कोई उसको निराकार समझते हैं, परन्तु उसके गुण सब पूर्ण हैं। विशेष व्यक्ति में आकार और रूप का बन्धन है इस लिये निराकार स्वरूप में सर्व व्यापकता और अपरिमितता रूप गुण ठीक ठीक घट सकते हैं और उसके रूप के निरूपण की आवश्यकता नही रहती, परन्तु चाहे वह साकार हो या निराकार उसकी शक्तियां सब पूर्ण हैं।

इस सिद्धात पर कि वह ससार को शून्य से प्रकट कर देता है हम विचार कर चुके हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि सर्व-व्यापकता में प्रकृति व जीवात्मा की स्वतन्त्र सत्ता नहीं रह सकती और ऐसी दशा में वह उसी के स्वरूप होंगे। यह तर्क हो सकता है कि आत्मा शरीर में सर्व-व्यापक है और फिर भी उससे स्वतन्त्र है; परन्तु यथार्थ में ऐसा नहीं है। जिस समय हम संज्ञाहीन होते हैं उस समय पिन चुभाने से हमें वह उत्तेजना नहीं होती जो कि जागृत अवस्था में होती है। जागृत्-अवस्था में भी यदि किसी विचार में डूबे हों तो हमें बहुत सी बातों का भान नहीं होता जब तक कि किसी असाधारण प्रभाव से हमारा ध्यान उस ओर आकर्षित न

हो, जीवात्मा शरीर में इसी प्रकार सर्व-व्यापक प्रतीत होता है जैसे मीठे पानी में खाड हो, परन्तु यथार्थ में खांड जल में सर्व व्यापक नहीं कही जा सकती। ऐसी कभी कभी होने वाली व्यापकता सर्व-व्यापक वस्तु की नहीं हो सकती। सर्व व्यापकता के लिये सूदम से सूदम स्थान पर उपस्थित होना ही नहीं किन्तु यह भी आवश्यक है कि वह प्रतिक्षण निरन्तर उपस्थित रहे। सर्वव्यापकता से स्वभावतः यह प्रतीत होता है कि प्रकृति व जीवात्मा में ही नहीं किन्तु ईश्वर व प्रकृति और जीवात्मा के तत्व में भी समानता है।

उसके सर्व-शक्तिमान और सर्वज्ञ होने से भी बहुत सी कठिन समस्या उपस्थित हो जाती हैं। यह एक पुराना प्रश्न है कि ईश्वर ने इस ससार को क्यों बनाया जिसमें इतना दुःख इतना पाप इतनी घृणित व कुत्सित वस्तु हैं। इस प्रश्न का समाधान अनेक असन्तोपजनक प्रकारों से किया जाता है। कोई कहते हैं कि भलाई के पूर्ण अनुभव के लिये कुछ बुराई का होना भी आवश्यक है। जैसे बिना सूर्य्य से तपे हम पेड की छाया का पूर्ण आदर नहीं करते इसी प्रकार विना दु.ख के सुख का पूर्ण अनुभव असम्भव है, परन्तु इसका तात्पर्य्य यह हुआ कि हममें स्वाभाविक दुष्टता है जिससे हमें भलाई ग्रहण करने की आवश्यकता है। हमारे स्वभावों को दुष्ट किसने बनाया ? यदि यथार्थ ज्ञान की हमें अपने मन को शुद्ध करने के लिये आवश्यकता नही किन्तु ईश्वर की शक्ति व प्रभाव को समझने के लिये है तो यह प्रश्न होता है कि ईश्वर अपनी शक्ति को समझाना ही क्यों चाहता है ? क्या वह भी दीन मनुष्यों के समान अहङ्कार व अभिमान से ग्रस्त है ? कोई कहते हैं कि ईश्वर ने ससार अपनी असीम कृपा

के प्रयोग करने के लिये बनाया है। यह तो परमात्मा का अद्भुत खेल हुआ कि पहिले तो कृपा की आवश्यकता उत्पन्न कर दे और फिर कृपा करे! क्या मनुष्यों को दुःखी करना ही कृपा करना है? वह कृपासिन्धु इस बात को सहन ही कैसे करता है कि उसकी सृष्टि के जीवधारी दुखी हों? क्या उसकी पूर्ण शक्ति ऐसा नहीं कर सकती कि हमें उसकी कृपा व कोमलता का यथावत् ज्ञान विना पाप व दुःख के ही हो जाय? कोई कोई तो दुख रहित केवल सुख से परिपूर्ण ससार को नीरस कहते हैं! वे अपने निर्माता का कैसा यश गाते हैं कि उसको ससार को रसीला बनाने के लिये दुख की आवश्यकता पड़ी!

कोई कहते हैं कि परमात्मा ने ससार को इस लिये बनाया है कि जीवात्मा अपने सस्कारों को भोग सकें। अपने पुण्य पापों का सुख दुःख भोग सकें। क्योंकि स्वर्ग और नरक दोनों संसार में ही हैं। वह कहने हैं कि ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति तीनों अनादि हैं। सृष्टि के प्रवाह में जीवात्मा कर्म करते हैं। इन कर्म्मों से संस्कार बनते हैं। जब नियमानुसार प्रलय होती है तो बहुत से जीवात्मा ऐसे रह जाते हैं जिनके सस्कार शेष रह जाते हैं। इन सस्कारों को शांत करने के लिये सृष्टि की फिर रचना होती है। संस्कार अच्छे, बुरे दोनों प्रकार के होते हैं। इस कारण ससार में सुख और दु ख दोनों होते हैं।

परन्तु कर्म्म तो तब ही हो सकते हैं जब ससार पहले से हो। यद्यपि ईश्वर की इस सृष्टि के आदि का किसी को ज्ञान न हो, परन्तु ऐसी सृष्टि कि जिसमें संस्कार बनते हों ईश्वर द्वारा रचा जाना इस बातको सिद्ध करता है कि आदि में किसी समय बिना सस्कार के भी जीवात्मा थे

जिनके सस्कार इस सृष्टि में बने। इस सिद्धात से प्रथम तो सृष्टि रचना का आदि होना ही निश्चित हो जाता है। दूसरे मूल प्रश्न का कोई उत्तर न मिला। क्योंकि उस प्रथम सृष्टि में भी जिससे पहिले कि कोई सृष्टि नही थी और जिसमें प्रथम ही सस्कार बने थे बुराई व भलाई होगी इसी कारण भले व बुरे सस्कार बने जिससे पीछे का सब सृष्टि प्रवाह भ्रष्ट हो गया। यह नहीं कहा जा सकता कि सस्कार जीवात्मा में स्वाभाविक हैं इस कारण उनके बनने की आवश्यकता नहीं क्योंकि ऐसी दशा में उनमें परिवर्तन नहीं हो सकता और अच्छे सस्कार अच्छे ही रहेंगे और बुरे बुरे ही रहेंगे। ऐसी दशा में सस्कारों के शात करने अथवा पुण्य पाप का फल देने का कोई प्रयोजन ही नहीं रहता। और सृष्टि रचना की भी कोई आवश्यकता नही रहती। यदि हमारी प्रकृति स्वभावत ही बुरी है तो वह अच्छी नहीं हो सकती। यदि जीवात्माओं को भी ईश्वर ने ही बनाया हो तो इस प्रश्न की कठिनता और भी बढ जाती है। उसने ऐसे जीवात्मा क्यों बनाये जो पाप कर सकें? और यदि भूल से पहिले यह कर भी दिया तो अब क्यों नहीं उनको नष्ट करके ससार सदैव के लिये पवित्र कर देता? केवल यह कह देने से कि सृष्टि प्रवाह अनादि और अनन्त है कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इससे तो केवल ईश्वर की अपनी भूल को ठीक करने की अशक्ति सिद्ध होती है।

कोई कोई बुराई की सत्ता ही नहीं मानते। हमें कोई बात बुरी अपने अल्पज्ञान के कारण प्रतीत होती है। भलाई और बुराई विचार की बात हो सकें या न हो सकें, परन्तु दुःख एक भाव है जिसे ऐसी सुगमता से नहीं उडाया जा सकता।

परन्तु वह कहते हैं कि हमारा दुःख उसकी कृपा का प्रमाण हैं। क्योंकि अब हम पवित्रता और उसकी दया को प्राप्त करने की राह पर हैं। यह हमारी जांच का समय है। हमें यह सिद्ध करना है कि हम उसकी दया के पात्र हैं। यह इस बात का चिन्ह है कि वह हममे इस जांच में पडने की शक्ति समझता है। यह इस बात का सङ्केत है कि वह हम पर अपनी दया की वर्षा करने के लिये उतारू बैठा है। हमें भी सन्तोष करना व उसको धन्यवाद देना उचित है। हमें उस की इच्छानुसार रहना चाहिये जिससे आने वाली शांति को प्राप्त कर सकें। परन्तु जब वह हमको पहले से धर्म्मात्मा व सत्-पुरुष बना सकता था तो फिर इस प्रकार दुःख से जाच करने की क्या आवश्यकता थी? दुःख सामर्थ्य का चिन्ह नही है। कोई उसको सहन कर लेते हैं और कोई नही कर सकते। उलटे खिन्न होकर अधिक गिर जाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि दुःख पापों का परिणाम नही किन्तु उसकी दया का चिन्ह है! कैसी अद्भुत दया है! यदि हम उस जाच में न उतरें तो क्या शांति फिर भी मिलेगी? यदि इसका यह अर्थ हो कि दुःख हमारे पापों का फल है और उसके भोगने से हमारे पाप नष्ट होकर हम पवित्र हो जाते हैं, और भविष्य में अधिक सुखमय जीवन के अधिकारी हो जाते हैं तो इसमें दया क्या हुई; हमारे पापों का दण्ड तो मिल ही गया! इसके अतिरिक्त इस मूल प्रश्न का कि ससार में पाप क्यों हुआ कोई उत्तर ही नही मिला।

कोई कहते हैं कि किसी भी कर्म्म मे स्वाभाविक बुराई नही किन्तु हमारे शरीर अथवा समाज पर उसके बुरे प्रभाव के कारण वह बुरा कहाता है। किसी को मारने की क्रिया मे

कोइ बुराई नहीं है। युद्ध में ऐसा होता ही है। एक धर्मात्मा न्यायाधीश किसी घातक को प्राण दण्ड देता है, परन्तु इससे पतित नही होता। परन्तु जो वध मनुष्य जाति के कल्याण के लिये अथवा अपनी रक्षा के लिये नहीं किन्तु अपने द्वेष को शांत करने के लिये किया जाता है वही पाप हो जाता है। इसी प्रकार दूसरे की वस्तु लेना स्वभाव से पाप नहीं है, चाहे वह राजनैतिक अपराध हो। जब कोई भूकों मरता मनुष्य भोजन मात्र के लिये चोरी करता है तो उसे निन्दित नही समझते। परन्तु स्वभाव से नीरस कर्म्मों और हम में अथवा समाज सङ्गठन में वैमनस्य ही क्यों हुआ ? सब बातें समान भाव में क्यों न रचीं जिससे किसी दशा में भी कोई दोष न होता ?

यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक स्थिति पूर्व की कारण रूप स्थिति का स्वाभाविक परिणाम है। परन्तु दु ख तो भाव सम्बन्धी है। यदि स्वाभाविक परिणाम के साथ यह दु ख न लगा होता तो कहा जा सकता था कि ससार में कोई कष्ट नहीं है और सब बातें प्राकृतिक कार्य्य क्रम से होती हैं, परन्तु ऐसा कोई कार्य्य क्रम ही क्यों है जिसमें किसी दु ख की सम्भावना हो ? अथवा हमारे स्वभाव ही ऐसे क्यों न कर दिये कि इस कार्य्य क्रम के दुःख का अनुभव ही न होता ?

अच्छा, भलाई और बुराई के प्रश्न को जाने दीजिये। उसने संसार को बनाया ही क्यों ? क्या उसको अपनी शक्ति दिखानी थी ? क्या वह भी प्रशंसा की इच्छा रखता है ? यह कैसी अद्भुत बात है कि उसकी यह अभिलाषा पूर्ण भी नहीं हो सकती क्योंकि उसने मनुष्य को अल्पज्ञ बनाया है जिससे कि सृष्टि की असख्य आश्चर्य-जनक वस्तुओं का

मनुष्य को ज्ञान ही नहीं होता और बहुत सी वस्तुओं का ज्ञान वह केवल तर्क से प्राप्त करता है।

क्या ईश्वर सृष्टि की रचना अपने समय को व्यतीत करने के लिये अथवा अपने मन को बहलाने के लिये करता है? क्या उसको भी समय भारी लगता है, परन्तु कैसा अद्भुत उसका खेल और कैसी अनोखी उसकी प्रवृत्ति! दूसरों का कष्ट और उसका मन बहलाव!

कोई कहते हैं कि वह अपना असीम प्रेम सब को देने के लिये सृष्टि बनाता है, परन्तु कैसा अद्भुत उपाय है प्रेम दिखाने का! क्या उसका प्रेम सुखमय ससार में न दिखाया जा सकता था? इन "सब" की रचना ही क्यों की? केवल अपने चित्त को बहलाने के लिये! यदि यह "सब" पहले से ही स्वतन्त्र जीवात्माओं के स्वरूप में उपस्थित थे तो उसने क्यों न अपना अद्भुत दर्शन सदैव देकर बिना किसी जाच के उन्हें अपना प्रेम दिखाया। कैसा न्याय है कि पहिले तो झगड़े और कष्ट में फेंक दिया और फिर अपने ही बनाये हुए दुःखों से आप ही उनके रक्षक बने। वास्तव में या तो ऐसे ईश्वर में दया का होना असम्भव है अथवा उसके सर्व शक्तिमान् होने के सम्बन्ध में हमारा विचार असत्य है।

इससे भी कठिन समस्या उसके सर्वज्ञ होने से होती है। वह सब प्रकार से पूर्ण है। उसका ज्ञान भी पूर्ण है। उसका ज्ञान हमारे से अधिक विस्तृत व सूक्ष्म हो सकता है परन्तु कम नही हो सकता। वह भूत, वर्तमान व भविष्य की सूक्ष्म से सूक्ष्म सम्भव बात को जानता है। वह जानता है कि अमुक समय पर गोपाल क्या करेगा। यदि ऐसा है तो प्रत्यक्ष ही गोपाल का कार्य्य पहले से ही नियत है, नहीं तो वह ज्ञान

का विषय कैसे हो सकता है। यह सत्य है कि ईश्वर का ज्ञान इसके नियत होने का कारण न हो, परन्तु उसका प्रमाण अवश्य है। यदि वह कार्य्य पूर्व से ही नियत है तो उसका दोष गोपाल पर क्यों? इसका यह उत्तर हो सकता है कि दोष का कोई प्रश्न नहीं। ईश्वर यह जानता है कि गोपाल क्या करेगा, परन्तु वह यह भी जानता था कि इसका परिणाम क्या होगा। वह कार्य व उसका परिणाम दोनों ही नियत थे। यह तो प्राकृतिक कार्य्य क्रम मात्र है। एक ईंट ऊपर से गिरती है और उसके दो टुकडे हो जाते हैं। इसमें उत्तरदायित्व की कोई बात नहीं है। यही दशा मनुष्य के कर्म्मों की है। विचार करो कि यदि गोपाल को नियत समय पर छत्त पर से गिरना है, तो उसका परिणाम, कि एक विशेष प्रकार से गिरने पर उसकी टाग टूट जायगी, ईश्वर को ज्ञात है। गोपाल गिरने का उत्तरदाता न हो, परन्तु टाग तो उसकी फिर भी टूटेगी ही। यहां तक तो कुछ झगडा नहीं है परन्तु इस गिरने से गोपाल के भावों में कोई अन्तर न पड़ना चाहिये। गिरने का स्वाभाविक परिणाम टाग का टूटना हो परन्तु उसके साथ गोपाल को दु ख क्यों हो? यह तर्क हो सकता है कि यदि गोपाल को नन्दन धक्का दे दे तो यद्यपि गोपाल अपने गिरने में दोषी नहीं है फिर भी उसको टाग के टूटने का दु ख सहन करना पडेगा। इस दशा में भी उत्तरदायित्व का सिद्धात यह कहेगा कि गोपाल को इस गिरकर दु.ख का दण्ड उसके अपने किसी पूर्व कर्म का फल मिला है। उसने नन्दन को कष्ट दिया होगा अथवा उसने किसी और पुरुष को कष्ट दिया होगा जिसका उसको यह दण्ड मिला। परन्तु जब सब कर्म्म ही पूर्व नियमित हो जाते हैं तब लम्बी से

लम्बी श्रेणी में भी कोई ऐसा कार्य्य नही रहता जिसका गोपाल उत्तरदायी हो सके। उसको किसी दशा में भी दुःख नहीं होना चाहिये। यदि ईश्वर में जानने की शक्ति है परन्तु वह उस शक्ति का प्रयोग भविष्य के जानने में नही करता तो भी काम नही चलता। यह बात ही कि भविष्य जाना जा सकता है इस बात को सिद्ध करती है कि भविष्य इतना निश्चित है कि वह ज्ञान का विषय हो सके। इससे उत्तरदायित्व के सिद्धात की समस्या मे कोई भेद नहीं पड़ता। यह भी कहा जा सकता है कि ईश्वर यह तो जानता है कि गोपाल क्या करने वाला है, परन्तु वह यह भी जानता है कि गोपाल अपनी स्वतन्त्र इच्छा से उसमे परिवर्तन भी कर सकता है। यदि गोपाल ऐसा नही करता तो वह अवश्य उसका उत्तर दायी होना चाहिये। और यदि गोपाल उसमें कोई पापमय परिवर्तन कर दे तो फिर वह क्यो न दोषी हो ? परन्तु ईश्वर इस बात को जानता है या नही कि गोपाल अमुक परिवर्तन करेगा अथवा कोई परिवर्तन नहीं करेगा ? यदि वह यह नही जानता तब तो उसका ज्ञान मनुष्य की बुद्धि से परिमित है। और यदि वह इसको भी जानता है तो वह परिवर्तन भी पूर्व से नियत है। इसका अर्थ यह होगा कि गोपाल को यथार्थ में कोई स्वतन्त्रता नही। उसका मन स्वभावतः उसी कार्य्य की ओर जायगा जो पहले से नियत है।

यह कहा जाता है कि ईश्वर केवल सिद्धांतों व नियमों को जानता है उनके विशेष प्रयोगों से उसे कुछ प्रयोजन नहीं। इससे उसका ज्ञान बहुत कुछ परिमित हो जाता है। वह सर्वज्ञ नही हो सकता। वह गोपाल के कर्मो को नही जान सकता और इसलिये न तो उसको दण्ड दे सकता है और न

पुण्य फल दे सकता है। वह केवल एक बार नियम बना देता है और फिर सो जाता है। वह संसार का फिर कुछ प्रबन्ध नहीं करता। यदि विशेष प्रयोगों को न जानने से ईश्वर की शक्ति की अपूर्णता है तब इस में भी सन्देह है कि वह नियम भी बना सकता है या नहीं। क्योंकि इस कार्य्य के लिये तीव्रतम चैतन्य शक्ति की आवश्यकता है जिससे नियम सम्बन्धी सम्पूर्ण स्थितियों, सम्भावनाओं व परिणामों का यथावत् ज्ञान हो सके। यह तभी हो सकता है जब छोटी छोटी बातों के जानने की शक्ति भी हो। और यदि उसमें इनके जानने की शक्ति तो है परन्तु वह उस शक्ति का प्रयोग नहीं करता और जान बूझ कर अज्ञान अवस्था में रहता है तो भी उत्तरदायित्व की समस्या खड़ी हो जाती है।

एक और बड़ी कठिन समस्या है। ईश्वर सर्व व्यापक, सर्व शक्तिमान् व सर्वज्ञ है। वह एक पत्थर के टुकड़े आदि सब वस्तुओं में व्यापक है। परन्तु उसके यह गुण उस पत्थर के टुकड़े में ढूंढे भी नहीं मिलते। पत्थर के टुकड़े को भी सर्व शक्तिमान् व सर्वज्ञ होना चाहिये नहीं तो यह कैसे कहा जा सकता है कि पत्थर में ईश्वर उपस्थित है? यह कहा जाता है कि ईश्वर पत्थर में है तो सही परन्तु उसकी शक्तियां उसमें गुप्त हैं। इससे कई प्रश्न खड़े होते हैं। उसके सर्व व्यापक होने का जो अनुमान है व सत्य हो या असत्य, परन्तु इसके विरुद्ध यह निश्चित है कि पत्थर में उसके गुणों को हम नहीं देख सकते। इसका परिणाम यह हो सकता है कि हम अपने पूर्व के अनुमान पर फिर विचार करें, परन्तु इससे हमको यह अधिकार कदापि नहीं होता कि हम एक दूसरी मनमानी हांक दें कि उसके गुण पत्थर में गुप्त रूप से हैं। दूसरे यदि वह गुण गुप्त रूप से भी

पत्थर में उपस्थित हैं तो भी क्या वे कभी त्रिकाल में प्रत्यक्ष होते हैं? यदि ऐसा नहीं है तो हमारे पास यह कहने के लिये कि ईश्वर पत्थर में किसी समय भी उपस्थित है क्या कारण है? तीसरे हम जानते हैं कि ससार में कुछ पदार्थ तो चैतन्य और कुछ जड़ हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वर के गुण चैतन्य पदार्थों में इतने गुप्त नहीं हैं जितने कि जड पदार्थों में हैं, तो क्या इसका अर्थ यह है कि ईश्वर अपनी ही सत्ता के विविध भागों में एक ही समय पर जीवित और जीव रहित, चैतन्य व जड़, कर्ता व अकर्ता हो सकता है? फिर जड और चेतनके गुण कहा तक तो ईश्वर के हैं और कहां तक प्रकृति व जीवात्मा के हैं? और क्या प्रकृति व जीवात्मा के स्वाभाविक गुण ईश्वर के गुणों को दवा लेते हैं—जो वह गुप्त हो जाते हैं—और अपने गुणों को प्रकट कर देते हैं?

ॐ राम

३—आदि तत्व-पर ब्रह्म।

हमने देखा कि जिस प्रकार हम समझते हैं उस प्रकार प्रकृति व जीवात्मा की स्वतन्त्रसत्ता, सृष्टि का प्रयोजन, मनुष्य का उत्तरदायित्व, ईश्वर की सर्व व्यापकता सर्व-शक्तिमत्ता और सर्वज्ञता में ठीक नहीं घटते। यदि यह गुण यथार्थ मे उसमे हैं तो इनका अर्थ उन अर्थों से भिन्न है जो हम अब तक समझते रहे हैं। इनमें सबसे अधिक महत्व का गुण सर्व व्यापकता है। विना इस गुण के ईश्वर, ईश्वर ही नहीं रहता। इसके कारण सब पहिले ही कहे जा चुके हैं। उनके अतिरिक्त एक कारण यह भी है कि विना ईश्वर के सर्व व्यापक हुए और विना सब वस्तुओं के उसके स्वरूप मात्र हुए हमारी जिज्ञासा

सन्तुष्ट नहीं हो सकती, और न हमारी ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी समस्या का कोई उत्तर ही मिल सकता है। जब तक आदि तत्व एक से अधिक माने जावेंगे तब तक यह स्वीकार करना पडेगा कि वह एक दूसरे से परिमित हैं। परिमित का अर्थ ही यह है कि उससे परे कुछ और भी है जिससे कि यह सीमा बधी। हमारा मन इस खोज को तभी छोडता है जब वह अपरिमित तत्व तक पहुचता है क्योंकि फिर परे जाने की सम्भावना ही नही रहती।

ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी समस्या का केवल अपरिमितता के सिद्धात से ही शात होने का कारण मनुष्य की अल्पज्ञता नही किन्तु समस्या की स्वाभाविक आवश्यकता अथवा आदि तत्व का प्राकृतिक स्वभाव है। ज्ञान के भेद से बीच के पदार्थों की सख्या व दशा के ज्ञान में भेद हो सकता है, परन्तु अन्तिम तत्व तो अपरिमित ही हो सकता है। प्रत्येक परिमित वस्तु के सिद्धात का स्वाभाविक परिणाम यही है कि वह अपने से अतिरिक्त और वस्तु की सत्ता के लिये स्थान छोड दे। यदि यह भी मान लिया जाय कि किसी पूर्णात्मा का ज्ञान भी पूर्ण है जिससे वह यह भी जानता है कि उसकी अपनी उत्पत्ति कब कहा और कैसे हुई, तो उसको यह भी जानना चाहिये कि उससे पहिले व उसके परे क्या था, और फिर उससे परे, फिर उससे परे इसी प्रकार अनन्तश्रेणी तक। ऐसी उत्पत्तियों का अन्त नही होता जब तक कि उसका पूर्णज्ञान भी अपरिमित तत्व तक न पहुचे।

कोई कहते हैं कि इसी अपरिमित के एक भाग को हम नाप सकते हैं। जो बात किसी एक रस वस्तु के भाग के सम्बन्ध में सत्य हो सकती है वही उसके पूर्ण स्वरूप के लिये भी सत्य होगी। अस्तु जब भाग नापा जा सकता है तो पूर्ण

स्वरूप भी नापा जा सकता है। फिर तो जिसे हम अपरिमित कहते हैं वह परिमित हो जाता है और किसी वस्तु का भी अपरिमित होना असम्भव हो जाता हैं। परिमित के विरुद्ध अपरिमित का होना न्याय विरुद्ध है क्यों कि जिस विस्तृत्व में परिमित को दशा हो सके उसका अपरिमित रूप हो ही नहीं सकता। अपरिमित शब्द का अर्थ ही विस्तृत्व से सम्बन्ध रखता है। अस्तु यह सिद्धात नितान्त असम्भव है। परन्तु ससार का आदि तत्व परिमित भो नहीं हो सकता क्योंकि फिर उस के परे भी कोई वस्तु होगी। यह नही कह सकते कि उसके परे कुछ नही है। यदि उसके परे पूर्णतया शून्य स्थान है तो इस बात के अतिरिक्त कि यह परिमित ससार कैसे, कब और कहाँ उत्पन्न हुआ, क्योंकि शून्य में से कोई वस्तु प्रकट नहीं हो सकती, एक प्रश्न यह है कि उस शून्य स्थान की भी कोई सीमा है या नहीं ? शून्य स्थान के नाप का होना तो शङ्का से ही प्रत्यक्ष है क्योंकि जब भाग नापा जा सकता है तो सब भी नापा जा सकता है। यदि उसके परे शून्य-स्थान भी नहीं है तब तो यह कहना ही कि आदि तत्व परिमित है व्यर्थ है, क्योंकि परिमित होना बिना सीमाबद्ध हुए असम्भव हैं। नही तो वह भी सीमा-रहित अपरिमित तत्व हो जाता है। इस प्रकार परिमित और अपरिमित दोनों सिद्धातों में ही विकट शङ्का हो सकती हैं, परन्तु जैसा कि कह चुके हैं परिमित से अपरिमित अधिक युक्ति युक्त है क्योंकि परिमित ही का अपरिमित में अन्त होना आवश्यकीय व सम्भव है और इसी प्रकार बुद्धि को सन्तोष हो सकता है।

कोई कोई यह भी कहते हैं कि आत्मिक सत्ता अपरिमित भी हो सकती है और फिर भी नापने योग्य नहीं हो सकती।

क्योंकि उसमें विस्तृत्व नही है। परन्तु अपरिमित शब्द से ही स्थानापेक्षा सिद्ध होती है। इस के अतिरिक्त यह प्रश्न भी है कि ऐसा परम आत्मा सर्व-व्यापक है या नही, यदि है तब तो यह सब वस्तुओं में व्यापक है और इस कारण उसमे भी विस्तृत्व है। और यदि वह सर्व-व्यापक नही है तो धर्म-विचार से भी वह व्यर्थ है, क्योंकि वह सब के कर्म्मों को जान नहीं सकता, और सिद्धात विचार से भी व्यर्थ है क्योंकि वह वस्तु जो सर्व-व्यापक नही है सब का तत्व नही हो सकती।

अपरिमितता केवल अद्वैतवाद में ही सम्भव है। द्वैत सिद्धात में स्वभावत ही अपरिमितता नही हो सकती, क्योंकि प्रत्येक वस्तु दूसरी से परिमित रहेगी। जब हम एक ही वस्तु सर्वत्र उपस्थित समझें तब ही वह अपरिमित हो सकती है। विस्तृत्व तथा समय के विचार से अपरिमित वस्तु ऐसी होनी चाहिये कि सम्पूर्ण परिमित वस्तुओं में व्यापक हो जिससे वह स्वय अपरिमिति हो सके। वह और सब वस्तुओं का तत्व रूप तब ही हो सकती है जब कि वह सर्व-व्यापक हो। कोई वस्तु सर्व-व्यापक उसी समय हो सकती है जब और सब वस्तु उसकी ही स्वरूप मात्र हों। इससे अद्वैतवाद ही सत्य हो सकता है।

सत्ता के विचार से ही उस स्थान का, जिसमें वह सत्ता हो, अस्तित्व सिद्ध होता है। गुण और शक्ति की सत्ता में विस्तृत्व न हो परन्तु उनकी सत्ता स्वतन्त्र नहीं हो सकती। उनकी स्थिति किसी ऐसी वस्तु के आधार पर ही हो सकती है कि जिसकी सत्ता स्वतन्त्र हो अर्थात् जिसमें विस्तृत्व हो। अस्तु स्वतन्त्र सत्ता विना स्थान के नही हो सकती। स्थान व उसमें स्वतन्त्र सत्ता दोनों उसी समय अपरिमित हो सकते हैं जब कि सम्पूर्ण स्थान उस एक सत्ता से परिपूर्ण हो और वह एक सत्ता

स्थान के अपरिमित विस्तार के साथ स्वयं अपरिमित हो। ऐसे सिद्धांत में स्थान का कोई सूक्ष्म से सूक्ष्म बिन्दु भी उस अपरिमित तत्व से शून्य नही रह सकता।

इसी प्रकार सत्ता के विचार से समय की स्थिति भी सिद्ध होती है। इसमें एक और विशेषता है कि शक्ति तथा वस्तु दोनों की सत्ता उस समय को सिद्ध करती हैं कि जिस समय उनकी उपस्थित है। समय के विचार से वही अपरिमित हो सकता है कि जिसका कोई आदि न हो। और जो वस्तु दूसरे से उत्पन्न हुई हो वह अनादि नही हो सकती। वह वस्तु ही जो सर्व-व्यापक हो और जिससे शेष सब वस्तुऐं बनी हों समय के विचार से अपरिमित हो सकती है। वह वस्तु एक है अद्वैत है और सर्व-व्यापक है, इसलिये उसकी उत्पत्ति का कोई प्रश्न नही हो सकता। जब एक से अधिक वस्तुओं की सत्ता सिद्ध की जाती है तो सब परिमित हो जाती हैं जैसा कि हम देख चुके हैं। इस कारण कोई एक वस्तु ऐसी होनी चाहिये कि जो अपरिमित हो और जिससे कि और सब वस्तुऐं उत्पन्न हुई हो। इससे पूर्व कोई और वस्तु नही हो सकती क्योंकि हम यह नही कह सकते कि इससे पूर्व कोई अर्धसत्ता थी। हम अर्ध भाग किसी विशेष 'एक' वस्तु की अपेक्षा से कहते हैं, परन्तु यहां जो वस्तु सब के आरम्भ मे होगी वही एक होगी। यदि कोई अपरिमित एक सत्ता किसी और अपरिमित एक सत्ता के पूर्व में स्थिति हो तो यह दूसरी सत्ता उस पहली सत्ता का ही कोई स्वरूप होगी। इसका अर्थ यह कभी नही हो सकता कि कोई समय के विचार से अपरिमित वस्तु सख्या में एक से कम हो सकती है। अस्तु, स्थान मे अपरिमित वस्तु ही अद्वैत नहीं किन्तु समय में अपरिमित भी अद्वैत ही हो सकती है।

इस अद्वैत अपरिमित सत्ता के साथ स्थान विस्तार व समय दोनों ही अपरिमित होंगे। यह सिद्धात न्याय सगत ही नही है वरन् सम्भव भी केवल यही है। इस प्रकार आदि तत्व का समय व स्थान दोनों में अपरिमित होना उसके परिमित होने से अधिक सुबोध व युक्ति सगत है, नही तो उससे पूर्व व परे भी कोई वस्तु होगी और वही सर्व-व्यापक और अपरिमित अद्वैत वस्तु कहलायेगी। अद्वैत तथा अपरिमित तत्व का यह सिद्धाति ही, कि जिससे स्थान व समय को भी अपरिमितता सिद्ध होती है, ब्रह्म सम्बन्धी समस्या का सन्तोष-जनक उत्तर हो सकता है।

आदि तत्व ऐसा होना चाहिये कि वह जड व चेतन सब वस्तुओं में व्यापक हो सके। वह ऐसा होना चाहिये कि जिससे ससार के सब भिन्न भिन्न पदाथ बन सकें। ऐसी दशा में ही वह सर्व-व्यापक हो सकता है क्योंकि उससे बनी हुई वस्तु यथार्थ मे उसी के दूसरे स्वरूप होंगे। जड प्रकृति का मुख्य गुण विस्तृत्व है। जीवात्मा की पृथक् स्थिति भी तभी हो सकती है जब उसमें विस्तृत्व हो। कोई स्वतन्त्र सत्ता भी विस्तृत्व रहित नहीं हो सकती। अत. आदि तत्व में भी अपरिमित विस्तार होना आवश्यक है। इस निर्णय से यह प्रतीत होता है कि विस्तृत्व जो जड प्रकृति का गुण है वह आदि तत्व में भी है।

चेतन और जड सृष्टि का मुख्य भेद चेतनता की उपस्थिति व अभाव है, परन्तु यह चेतनता भी आदि तत्व में होनी आवश्यक है नही तो वह सृष्टि में हो ही नहीं सकती। क्योंकि अपरिमित आदि तत्व के अतिरिक्त और कोई वस्तु ऐसी नही है जिससे सृष्टि के पदार्थों का उदय हो सके। और वही आदि तत्व जड़ पदार्थों का भी तत्व है। उसकी चेतनता जड पदार्थों

में भी होनी चाहिये नहीं तो वह आदि तत्व सर्व-व्यापक नहीं हो सकता। अतएव आदि तत्व की चेतनता ऐसी होनी चाहिये कि वह केवल जीवात्माओं में ही नही किन्तु जड पदार्थों में भी रह सके।

सूक्ष्म जतु ऐमीवा से लेकर उन्नत मनुष्य तक की भिन्न भिन्न आत्माओं से ही नहीं किन्तु स्वय मनुष्य की चेतनता की भिन्न भिन्न दशाओं से भी यह सिद्ध होता है कि चेतनता के दर्जे हो सकते हैं। जैसी चेतनता जागृत अवस्था होती है वैसी स्वप्न अवस्था में नही होती। और गाढ़ निद्रा में तो दशा प्रायः कुछ २ वृक्ष व पत्थर जैसी हो जाती है। गाढ़ निद्रा में स्वप्न का सा धुधला परन्तु भिन्नता सहित अनुभव भी नही होता। वास्तव में उस समय कोई ज्ञान इन्द्रिय कार्य्य नही करती, परन्तु जीवन क्रियाएं सब ठीक इसी प्रकार होती रहती हैं जैसे कि वृक्ष में, परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि उस समय कुछ भी चेतनता नही होती। जब हम गाढ़ निद्रा से जागते हैं तब हमें उस समय अनुभव की हुई शान्ति व सुख की स्मृति होती है। यह भाव हमारा अनुमान नहीं है जो हमने अपनी प्रफुल्लित दशा को देख तर्क द्वारा किया हो। हमे ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे हमको वह सुख—वह सुख नही जो हमको इस समय होता है किन्तु वह सुख जो हमें निद्रा के समय हुआ था—ही स्मरण होता है। स्मृति अनुभव की ही हो सकती है। कोई अनुभव बिना चेतनता के नही हो सकता यद्यपि गाढ निद्रा में हमें भिन्नता का अनुभव नही हो सकता था, परन्तु हम में इतनी चेतनता थी कि उस सुख का अनुभव हमारे मन में अङ्कित हो जाय और जागने पर स्मरण हो। स्मृति उसी समय हो सकती है जब हमारी चेतनता की दशा ऐसी हो जिससे भिन्नता

का अनुभव कर सकें। क्योंकि उसी समय हम भूत व वर्त्तमान में भेद समझ सकते हैं। जब हमारे जागृत अवस्था की चेतनता की दशा गाढ निद्रा में ऐसी हो जाती है कि अपनी सत्ता का भी पूर्ण अनुभव हम नही कर सकते तो अवश्य सम्भव है कि बीज रूप चेतनता जिससे हमारी चेतनता उत्पन्न हुई है हमारी गाढ निद्रा की चैतनता से भी अधिक सूक्ष्म हो, जिससे वह जड और चैतन्य दोनों पदार्थों में समान रह सके। ऐसी दशा में जड़ और चैतन्य, जीवित व निर्जीव पदार्थों में यह भेद होगा कि जहां चैतन्य पदार्थों में इस बीज रूप चेतनता का विशेष विकास होता है वहा जड पदार्थों में वह नही होता।

इस बीज रूप चेतनता की उन्नति हो कर मनुष्य की पूर्ण चेतनता में परिणत होना विवेक विरुद्ध नही है। ससार के अनेक भिन्न भिन्न जड पदार्थ एक ही प्रकृति से वने कहे जाते हैं। कि जिस वस्तु में न तो अनेक रग हैं और न अनेक मात्राओं की घनता है। हीरे और कोयले का कितना भेद है। परन्तु उनका तत्व एक ही है। और कहते हैं कि कोयले पर बहुत सा दवाव पडने से उसका हीरा भी हो सकता है। जल अपने जल, वर्फ और भाप के तीन स्वरूपों में कैसे भिन्न रूप और गुण वाला होता है परन्तु तत्व जल ही रहता है। जब ऐसे भिन्न भिन्न गुण व रूप जड सृष्टि में भी एक वस्तु से उत्पन्न हो जाते हैं तो फिर इसी सिद्धात के अनुसार चेतनता में भिन्नता होने में क्या वाधा है? जड और चैतन्य के परस्पर वैमनस्य सम्बन्धी पूर्व स्थित विचारों के पक्षपात के कारण हम जिन नियमो को प्रकृति में प्रत्यक्ष देखते हैं उन्हें चैतन्य में घटाते हुए झिझकते हैं, परन्तु कोई सिद्धात जो दोनों सृष्टियों के भेद को जहा तक सम्भव हो सके एक करने में सहायता करे वह उससे विरोधी विचार की

अपेक्षा अधिक युक्ति सगत है। यदि हम जड व चैतन्य में पूर्णतया वैमनस्य समझेंगे तो अद्वैतवाद असम्भव है। बिना अद्वैत सत्ता के 'अपरिमित स्वरूप' समझ में नही आता और बिना अपरिमितता तक पहुचे जिज्ञासा की शांति नहीं है।

आदि तत्व में प्रकृति का विशेष-तत्व विस्तृत्व ही नही किन्तु जीवात्मा का विशेष तत्व चेतनता भी है। जैसे जीवात्मा में चेतनता विशेष विकसित होती है उसी प्रकार जड प्रकृति में विस्तृत्व विशेष वृद्धि को प्राप्त होता है। अतएव जहां जीवात्मा में चेतनता की शक्तियों का प्रकाश होता है वहां जड पदार्थों में उसकी शक्ति विस्तृत्व की विशेष वृद्धि आवृत से होती है। जड पदार्थों की घनता यथार्थ में विस्तृत्व का ही परिवर्तन है। किसी पदार्थ का किसी स्थान में किसी समय पर जो विस्तार होता है उसी विस्तार के सिकुडने से गाढ़ापन प्रकट हो जाता है। घनता की भिन्नता ही किसी न किसी रूप से प्राकृतिक ससार के प्रकट होने का कारण है। इस प्रकार आदि तत्व के दो गुणों के भेदाभेद से ही सृष्टि के सम्पूर्ण पदार्थ प्रकट हो जाते हैं। अतएव आदि तत्व की सत्ता विस्तृत्व व चेतनता के विशेष गुणों के साथ समय व स्थान रूपी दो दशाओं में स्थित हैं।

यह निर्णय आश्चर्य्य जनक भले ही हो परन्तु इससे बचने का कोई उपाय भी नही है। ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी समस्या के संतोष जनक उत्तर के लिये अपरमितिता आवश्यक है। अपरिमितता केवल अद्वैत सत्ता में हो सकती है। ऐसी अद्वैत सत्ता ससार की भिन्नता को तत्व में एक करनेवाली होनी चाहिये। जीवात्मा व जड ससार दोनों में से किसी को असत्य कहने से सन्तोष नहीं हो सकता क्योंकि एक प्रत्यक्ष

सत्ता का कोई भेद ज्ञात नही होता। और न पूर्ण परमात्मा के सिद्धात से ही काम चल सकता है। कोई कोई कह सकते हैं कि यह नास्तिकता है। जिसको सत्य की जिज्ञासा है वह उन विचारों को मानने पर वाधित नहीं है कि जिन की विवेक से जाच नहीं की गई। यह सिद्धात ईश्वर की सत्ता को न मानता सही परन्तु जिस अर्थ में हम समझते हैं उसमें वास्तव में ईश्वर की कोई सत्ता नही। जो है ही नही उसे कोई अस्वीकार क्या करेगा। असत्य का अस्वीकार करना और सत्य की घोषणा करना पाप कदापि नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त यह सिद्धात पूर्णतया नास्तिकता का भी नही है क्योंकि अगले पाद में यह दिखाया जायगा कि सृष्टि को रचने वाली शक्तियों का उत्पादक जड प्राकृतिक गुण विस्तृत्व नही है वरन् चैतन्य गुण बीज रूप चेतनता का है। परन्तु हमारे ऐसा दिखा सकने व न दिखा सकने से इस सिद्धात में कोई भेद नही पड सकता। आदि तत्व का यही सिद्धात विवेक से ठीक प्रतीत होता है कि जो सृष्टि के अनेक जड व चैतन्य पदार्थों के तत्व को एक करता है और किसी से विरोध नही करता। अतएव इसकी सत्यता के लिये सृष्टि रचना की क्रिया का विवरण आवश्यक नही है। फिर भी अगले पाद में यह देखने का प्रयत्न किया जावेगा कि विवेक हमारी इसमें भी सहायता कर सकता है या नहीं। फिर अवतारों का रहस्य और दैविक प्रेम आस्तिक भाव को विवेक पूर्ण कर दृढ़ कर देते हैं।

कुछ लोग बडी शाति से यह पूछेंगे कि क्या ईश्वर की अस्वीकृति से धर्म की स्थिति असम्भव नही हो जाती। क्योंकि इससे उस महान सत्ता का महत्व जाता रहता है कि जो ससार का प्रबध करने में सहायक था व पुण्यात्मा और पापियों को

कर्मानुसार फल देता था ? परन्तु वह विश्वास रखें कि सत्य के पहचानने और धार्मिक सिद्धांतों को उस अटल सत्य पर निर्भर करने से धर्माचरण में एक असत्य व अपूर्ण सिद्धात पर निर्भर रहने की अपेक्षा अधिक बल व दृढ़ता का सचार होगा।

कोई कोई जीवात्मा की पृथक् सत्ता मानने में ही आपत्ति करते हैं। जड शरीर ही—जिस मे आदि तत्व से उत्तपन्न होने के कारण कुछ न कुछ चेतनता होनी चाहिये—अपने विशेष संगठन से इस प्रकार की चेतनता को क्यों नहीं प्राप्त कर सकता ? परन्तु जब योगी अपने पूर्व जन्मों को स्मरण कर सकता है तो इस में कोई प्रश्न ही नही रह जाता। जिस प्रकार कि पदार्थ-विज्ञान में बहुत सी बातें उन पुरुषों के विश्वास पर स्वीकार करनी पडती हैं जिन्होंने कि उनका अनुभव किया है इसी प्रकार यहा भी हम कुछ बातें उन पुरुषो के विश्वास पर मानते हैं कि जिन्होंने योगाभ्यास व आत्मानुभव किया है। जिस प्रकार विज्ञान सम्बन्धी अनुभव वह कर सकते हैं जो उसके योग्य हों इसी प्रकार योग सम्बन्धी ज्ञान भी अधिकारियों को हो सकता है। इसके अतिरिक्त सिद्धांत ऐसा होना चाहिये जो विवेक-सगत हो और ससार के रहस्य को सुगम करता हो। प्रथम पाद में यह दिखाया जा चुका है कि जीवात्मा की पृथक् सत्ता न मानने से बहुत सी बातें समझ में नहीं आती और शरीर व जीवात्मा को एक समझने की अपेक्षा उनका पृथक् २ मानना अधिक युक्ति सगत है। पृथकता का सिद्धात एकता के सिद्धांत से अधिक चित्ताकर्षक व निश्चयात्मक है।

और लोग यह आपत्ति करेंगे कि इस सिद्धांत के अनुसार जीवात्मा आदि तत्व अथवा परब्रह्म परमेश्वर से अधिक शक्ति वाला अधिक उत्तम व विशेष उन्नति वाला व्यक्ति है। इस बात

को कि यह सम्पूर्ण जड संसार एक प्राकृतिक सत्ता से उत्पन्न होता है कोई भी अस्वीकार न करेगा। फिर यह कोई नहीं पूछता कि क्या उपवन का सुन्दर पुष्प आदि प्रकृति की अपेक्षा अधिक उत्तम तथा उन्नत व विशेष है। यदि कहो कि पुष्प तो जीवधारी सृष्टि है तो कोई हीरे अथवा लाल के लिये भी यह नहीं पूछता कि क्या यह आदि प्रकृति से उत्तम वस्तु हैं। इन दोनों बातों में हमारे विचारों के भेद इसलिये हैं कि हम ईश्वर को पूर्ण व्यक्ति समझते रहे हैं और उसके गुणों का अनुसधान इस प्रकार, जैसे कि जड पदार्थों का किया है, कभी नहीं किया। इसके अतिरिक्त विशेषता का प्रश्न तो अन्यापेक्षी है। कोई बीज को जिससे वृक्ष निकलता है वृक्ष से बडा समझ सकते हैं। दूसरे वृक्ष को जो आकार व रूप में बडा होता है और जिस पर बीज लगते हैं बीज से बडा कहेंगे। परन्तु यथार्थ में वृक्ष और बीज दोनों एक ही चक्र के दो अश हैं। सृष्टि चक्र अपने स्वभाव में स्वय स्थित है इसको कारण की आवश्यकता नहीं पडती। वह अपनी गति के प्रत्येक अश के लिये कारण अपने आप उत्पन्न कर लेता है। यह नहीं कहा जा सकता कि उसका एक चरण दूसरे चरण से उत्तम है क्योंकि प्रत्येक चरण का कारण उसी में से उत्तपन्न होता है। प्रत्येक वस्तु उसी आदि तत्व से निकलती है और उसी में समा जाती है।

यह प्रश्न भी हो सकता है कि क्या सर्वशक्तिमत्ता व सर्वज्ञता के विचार पूर्णतया निर्मूल हैं। सर्व-व्यापकता पर तो कोई दोष नहीं आता क्योंकि वह तो इस सिद्धात के लिये भी अति आवश्यकीय है। सर्वशक्तिमत्ता व सर्वज्ञता पूर्णतया असत्य नहीं है, परन्तु उनका अर्थ कुछ और ही है। आदि तत्व सर्वशक्तिमान् है क्योंकि संसार की सम्पूर्ण शक्तियां उसी में

रहती हैं। यही एक अद्वैत सत्ता है। अस्तु ससार में कोई गुण, शक्ति, व वस्तु इससे स्वतन्त्रता किसी वस्तु से उत्पन्न नही हो सकती। सब वस्तु इसी एक तत्व से उत्पन्न होती हैं। कोई शक्ति ऐसी नहीं हो सकती जो स्वभाव से इसकी विरोधी हो अथवा जो इसी के स्वभाव का परिणाम न हो। इन सब शक्तियों की मूल बीज रूप चेतनता आदि तत्व में स्थिति रहती है और जब उसके एकाग्रत होनेसे सृष्टि चक्र एकबार चल जाता है तब यह सब शक्तिया प्राकृतिक कार्य्यक्रम के अनुसार प्रकट हो जाती हैं। वह आदि तत्व इस विचार से सर्व शक्तिमान नही हो सकता कि वह उन शक्तियों का प्रयोग जान बूझ कर कर सके। ईश्वर केवल अपनी इच्छा के प्रभाव से सृष्टि को शून्य में से उत्पन्न नही कर सकता। उसकी बीजरूप चेतनता सृष्टि रचना को आरम्भ कर देती है। सृष्टि उस ही में से प्राकृतिक नियमों के अनुसार प्रकट हो जाती है।

आदि तत्व सर्वज्ञ है परन्तु उस प्रकार नहीं जैसा कि हम समझते हैं हमारा ज्ञान यथार्थ ज्ञान का जो हम से स्वतन्त्र हैं प्रदर्शन मात्र है। यह सम्भव है कि यह प्रदर्शन अपूर्ण व अशुद्ध हो। अतएव वह बात, वस्तु, क्रिया आदि ही जिन के प्रदर्शन मात्र को हम ज्ञान कहते हैं यथावत, सत्य, पूर्ण व निश्चित ज्ञान है। जहां इस अपूर्ण अशुद्ध प्रदर्शन मात्र ज्ञान के अधिकारी हम हैं वहां वह सब ज्ञान की वस्तुएँ आदि तत्वके आधार पर हैं क्योंकि कोई वस्तु उससे परे नही हो सकती। आदि तत्व में हमारे प्रदर्शन मात्र ज्ञान की सत्य वस्तु ही नहीं किन्तु और भी असख्य सत्य वस्तु हैं जिनका हम को पता तक नहीं है। आदि तत्व का ज्ञान हमारे ज्ञान से अधिक विस्तीर्ण, यथावत, व स्वच्छ है। इस विचार से आदि तत्व सर्वज्ञ है। उसकी सर्वज्ञता का यह अर्थ

नहीं कि वह इन ज्ञानों को समझता हो अथवा उन का भिन्न भिन्न बोध रखता हो।

धर्म सवन्धी दृष्टि से भी आदि तत्व सर्वज्ञ कहा जा सकता है। कहते हैं कि ईश्वरसे कोई छल नहीं कर सकता क्योंकि वह हमारे गुप्त से गुप्त कर्म्मों को देखता है। ईश्वर को छलना सम्भव हो या न हो परन्तु आदि तत्व का छलना अवश्य पूर्णतया असम्भव है। हमारा प्रत्येक कर्म्म नियमानुसार हमारे स्वभाव में स्वयं अंकित हो जायगा और इस अंकित होने का जो प्राकृतिक परिणाम होगा वह भी अपने आप नियमानुसार उपस्थित होगा। ऐसा ईश्वर हमारे भीतर बैठा छोटी से छोटी बात को लिख लेगा और उसीके अनुसार फल देगा वा दण्ड देगा। उसका ज्ञान ऐसा है कि उससे कोई छिपाव नहीं हो सकता।

ॐ राम

४—सृष्टि का रचना विधि

पदार्थ विज्ञान सब वस्तुओं को किसी न किसी प्रकारके कंप, हरकत होने की क्रियाओं से उत्पन्न हुआ कहता है। पृथिवी, सूर्य, तारे आदि सब किसी न किसी ऐसी ही क्रिया से बने हैं। जब किसी ऐसी वस्तु पर जो अपने से हलकी वस्तु में स्थिति है कोई शक्ति कार्य्य करती है तो हरकत उत्पन्न होती है। इस के लिये कंपित वस्तु व कंपन करनेवाली शक्ति ही की आवश्यकता नही किन्तु यह भी परमावश्यक है कि कंपित वस्तु के परिस्थित वस्तु की घनता कंपित वस्तु से कम हो। हमारे सिद्धांत में सब वस्तुओं का तत्व केवल एक अद्वैत वस्तु आदि तत्व परब्रह्म है जो एक रस है तो फिर एक रस वस्तु में हरकत कैसे हो सकती है। और वह एक रस भी कैसा कि अप-

रिमित विस्तार वाला कि जिसमें किसी अन्य वस्तु के आ
की सम्भावना भी नहीं है और न उसकी परिस्थिति में को
अन्य वस्तु उससे हलकी हो सकती है। उसके भीतर को
स्थान शून्य भी नहीं हो सकता उसमें न परमाणु और न पर
माणुओं के बीच का अवकाश हो सकता है। ऐसे आदि तत्व
सृष्टि को उत्पन्न करने के लिये हरकत कैसे हो सकती है ? यदि
हरकत से सृष्टि नहीं बनी तो किस प्रकार प्रकट हुई ?

यदि किसी शीशे की बोतल में हम कोई ऐसी वायू भ
दें जो जम सकती हो और उसके मुह को इस प्रकार वन्द क
दें कि उस में और वायु न जा सके और फिर उस वायु के
थोडा सा जमा दें तो उसके एक भाग के जमने से जो उसके पर
माणुओं की सिकुडन होगी, और उस सिकुड़न से जो अवकाश
बढेगा उससे शेष वायु के बिना जमे परमाणु फैल कर उस
अवकाश की पूर्ति कर देंगे क्योंकि वायु में फैलने व सिकुडने
का गुण है। अब भी सारी बोतल में वही वस्तु होगी परन्तु
उसमें से कुछ जमी हुई होगी और कुछ पहले से भी सूक्ष्म
होगी। घनता के भेद की आवश्यक दशा उपस्थित हो जायगी
और अब जमी हुई वायु उस बोतल में हरकत कर सकती है
यदि आदि तत्व में भी लचकता का गुण उपस्थित है अर्थात
उसका एक ही परिमाण निरन्तता मे भेद डाले बिना विस्तृत्व
में घट बढ सकता है तो उसमें भी ऐसी क्रिया हो सकती है
जैसी कि बोतल में हुई और दो दर्जे की घनता जो हरकत के
लिये आवश्यक है उत्पन्न हो जायगी। यह प्रश्न अवश्य है कि वह
जमाव वा गाढापन किस प्रकार उस आदि तत्व में हो सकता
है। यदि ऐसे जमाव का कोई स्वाभाविक कारण—जिसमें किसी
अन्य वस्तु की सहायता की आवश्यकता न हो—हो सकता

हो तब तो यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि ऐसी क्रिया उसमें भी हो सकती है। आदि तत्व सब से सूक्ष्म वस्तु है। अतएव वायु से उसमें लचकत अधिक ही होगी न कि कम।

हम अपने जीवन में अनेक वार यह देखते हैं कि कभी कभी हमें अपनी स्थिति का वडी तीव्रता से बोध होता है। साधारणतया हमारी चेतनता कुछ फैली हुई सी रहती है। जब हम अपना ही ध्यान करते हैं तब यह तीव्र हो जाती है। अधिकतर यह क्रिया क्षणिक होती है परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से हम इसे देखें तो हमें ज्ञात होगा कि यह न तो इतनी क्षणिक है और न इतनी साधारण ही है जैसी हमको प्रतीत होती है। यदि हम किसी स्थान में शान्ति से बैठकर अपनी सत्ता का ध्यान करें, अर्थात् इस बात का विचार करें कि हमारी सत्ता प्रत्यक्ष है, तो हमारी क्रिया भी एक प्रकार की सिकुडन से आरम्भ होती है। यदि हौले हौले "मैं—हूं" का ध्यान करें तो मन में "मैं" को मन्द गति से उच्चारण (म—अ—ए—ऐ—ऐं—एं) करने के साथ ही मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मैं अपनी चेतनता को वाह्य वस्तुओं से पृथक् कर के अन्दर की ओर ही नहीं खींचता वरन् अपने शरीर के अन्तिम भागों से भी अपनी चेतन सत्ता को किसी मध्यस्थान की ओर, जैसे कि हृदय है, खींचता हू। ऐसा अनुभव होता है कि मानों तीव्रता को प्राप्त करने के लिये चेतनता अपनी विस्तृत दशा से सिकुडती हो। वास्तव में यदि ससार की चिन्ताओं को छोड कर शान्तचित्त से इस क्रिया को कई वार किया जाय तो ऐसा अनुभव होने लगता है कि मानों असख्य अति सूक्ष्म परमाणु कुछ "हम" सा शब्द करते हुये शरीर के नीचे के भागों से उठते हैं और वह भाग सुन्न से होते जाते हैं (यह सुन्न सा होना

दुखमय नहीं होता वरन् सुखमय होता है)। इसका अर्थ यह नहीं है कि आत्मा के रहने का स्थान शरीर के मध्य में कही है। यहां पर तो प्रयोजन केवल यह है कि चेतनता के तीव्र होने में जो सिकुडन का सा भाव है उसे प्रत्यक्ष कर दें। इस बात को कोई अस्वीकार न करेगा कि अपनी चेतनता के तीव्र बोध में उसकी एकाग्रता होना आवश्यक है। एकाग्रता का प्रकृति-सम्बन्धी स्वरूप विस्तृत्व का सिकुडना है। यदि आध्यात्मिक चेतनता और प्राकृतिक विस्तृतत्व ऐसे निर्भेद मिले हों कि वह पृथक् न हो सकें तो यह प्रत्यक्ष है कि चेतनता के एकाग्र होने के साथ साथ विस्तृतत्व की सिकुडन होगी।

"मैं" के उच्चारण मे चेतनता विस्तृत दशा से एकाग्र होती है। अक्षर "ह" के संग चेतनता का बोध होने लगता है और यह बोध 'ह' अक्षर "ऊ" के साथ पूर्ण हो जाता है और फिर इस अक्षर के दीर्घ रहने से नेत्र खुल जाते हैं और फिर वाह्य ससार व अपने शरीर का कुछ नवीन चेतना सहित भान होता है। मैं अपने मन को वाह्य वस्तुओं मे फिर प्रवृत्त करता हू परन्तु ऐसी अज्ञता के साथ नहीं जैसा कि मैं अपनी चेतनता की विस्तृत दशा में करता था वरन् कुछ विशेष चेतनता के साथ ऐसा करता हूं कि जिसमें मुझे यह बोध रहता है कि मेरी सत्ता उन वस्तुओं से जिनको कि मैं देखता हू पृथक् है। इस अवस्था में मुझे ऐसा अनुभव होता है मानों चेतनता की किरण मेरे सारे शरीर के भागों में जाती हों। और इसमें यह एक विशेषता होती है कि जहां एकाग्र होने में क्रिया मन्द गति से होती थी वहा एकाग्र हुई चेतनता के विस्तृत होने में एक साथ बिजली सी फटेगी और एकदम शीघ्रता से चेतनता की लहर चारों ओर शरीर में फैल जायगी।

क्रियात्मक चेतनता आदि शक्ति है। अतएव यह स्वाभावतः ही सदैव एक दशा में एकाग्र अथवा विस्तृत नहीं रह सकती। यदि वाह्य उत्तेजक पदार्थों से हम अपना सम्बन्ध पूर्णतया तोड दें फिर भी चेतनता अपने स्वभाव से ही समय समय पर एकाग्र होती रहेगी और कभी कभी हमको अपनी सत्ता का बडा तीव्र बोध हो जाया करेगा। इस एकाग्रता व विस्तृत दशा के होते रहने के लिये किसी बाहरी उत्तेजना की आवश्यकता नही है। साधारणतया एकाग्रता बाहरी उत्तेजनाओं से इतनी अधिक होती है कि उसका स्वाभाविक होना सहज में समझ में नहीं आता। वास्तव में ऐसी वाह्य उत्तेजनाओं से हुई चेतनता की एकाग्रता के अनेक सहज अवसर होने से उसकी अपनी क्रिया से बोध होने का गुण भी छिपा जाता है। परन्तु यह बात ही कि चेतनता क्रिया शील है दशा परिवर्तन को आवश्यक बना देती है। और इससे उस दशा परिवर्तन का स्वाभाविक होना सिद्ध होता है। सब से साधारण व स्वाभाविक परिवर्तन एकाग्रता व विस्तृतता का है। उनका जड स्वरूप सिकुडना और फैलना है।

कोई कोई यह कह सकते हैं कि शक्ति की एक दशा क्रिया रहित भी हो सकती है जिसमें कि वह गुप्त अवस्था में स्थित रहती है। इसलिये चेतनता का सदैव एकाग्रत व विस्तृत होता रहना आवश्यक नहीं है। परन्तु दो बातें स्मरण रखनी चाहिये। प्रथम तो विस्तृत दशा ही एक प्रकार की गुप्त अवस्था है। भेद केवल इतना ही है कि इसे गुप्त अवस्था से प्रकट करने के लिये अर्थात् एकाग्रत करने के लिये किसी अन्य उत्तेजना की आवश्यकता नहीं है क्योंकि चेतनता क्रियात्मक जीवित शक्ति है। दूसरी बात यह है कि गुप्त अवस्था का अर्थ यह है कि

अमुक शक्ति प्राकृतिक नियमों के अनुसार, जो नियम कि सृष्टि की रचना में प्राकृतिक कार्य्य क्रम से स्वतः ही बन जाते हैं, अभी प्रकट नही हुई। हम उसको गुप्त अवस्था में स्थित इस लिये कहते हैं कि हमें उसका प्रकट अवस्था व उन दशाओं का जिनसे कि वह प्रकट होती है अनुभव हो चुका है। नहीं तो उस विशेष शक्ति का अस्तित्व ही जब होता है जब वह प्रकट अवस्था में होती है। उस समय तक "बल" का कोई स्वरूप होता है कि जिससे अनेक शक्तियां प्रकट हो सकती हैं। परन्तु आदि तत्व की बीज रूप चेतनता आदि शक्ति है और आदि तत्व के अनुसार अनादि व अविनाशी है। इस कारण यह नही कह सकते कि वह किसी पूर्वस्थित बल रूप अवस्था से प्रकट हुई क्योंकि ऐसा कहने से उसके अस्तित्व की आदि हो जायगी। जैसा कि पहले कह चुके हैं इसी मूल शक्ति से जब कि वह सृष्टि चक्र को एक बार चला देती है प्राकृतिक कार्य्य-क्रम के अनुसार अनेक शक्तियां प्रकट हो जाती हैं। अतएव यह चेतनता रूप शक्ति स्वाभावत ही क्रियात्मक है।

आदि शक्ति चेतनता के इन गुणों से सृष्टि रचना का रहस्य प्रत्यक्ष हो जाता है। आदि तत्व में भी बीज रूप चेतनता है। उसकी दशा भी एकाग्रता व विस्तृतता में बदलती रहनी चाहिये। एकाग्रता की क्रिया उसमें भी इसी सिद्धान्त पर परन्तु इस क्रिया से अधिक सूक्ष्म होनी चाहिये। यह स्मरण रखना चाहिये कि आदि तत्व हमारे अनुभव की सब वस्तुओं से अधिक कोमल, हलका व सूक्ष्म होगी उसकी विस्तृत चेतनता की लेशमात्र एकाग्रता से भी सिकुड़न उत्पन्न हो जायगी। परिणाम यह होगा कि इस एकाग्रता के साथ वैसा ही जमाव व फैलाव होगा जैसा कि बोतल में भरी हुई वायु में हुआ था।

आदि तत्व की निरन्तरतामें कोई भेद नहीं पड़ेगा परन्तु उसमें अब दो दशा प्रकट हो जायगीं। एकाग्रत होती हुई चेतनता की बढ़ती हुई शक्ति उस जमे हुए भाग को स्थिर नही रहने देगी किन्तु सारे पिंड में कप कर देगी जैसे कि पृथ्वी की अन्तरीय उत्तेजना से भूचाल आजाता है। क्षोभ के केन्द्र के परिस्थित आकाशवर्त्तो और सुष्टिया स्थित होगीं वह कदाचित् उस पिण्ड में एक दूसरे प्रकार की हरकत प्रकट करने का कारण होगी इन अनेक प्रकार की गति कम्प स्पन्द हरकन आदि से वह पिण्ड अधिक स्थूल ही नही होगा किन्तु उस पिण्ड के अन्तरगत भी घनता के अनेक दर्जे प्रकट हो जायगे। एकाग्रता को प्राप्त हुई चेतनता के एकदम विकसित होकर सम्पूर्ण पिण्ड में फैलने पर इन सब में एक नवीन असीम शक्ति का सयोग होगा जब इससे एक प्रकार का अन्तरीय सघट, दवाव व वेग प्रकट होगा जिससे असख्य चेतनता की किरण उस पिण्ड में फैल कर असख्य कम्प के केन्द्र प्रकट कर देगीं। प्रत्येक कप केन्द्र अनेक नवीन कम्पों को प्रकट करेगा और उन सब में स्थान, दिशा, समय, व कार्य्य करती हुई शक्ति के तेज की भिन्नता से असख्य भेद उत्पन्न हो जायगे। परमाणुओं की सख्या बढ़ने के साथ कम्पों की भिन्नता व सयोगों में भी बढती होगी और परिणाम में ऐसी अद्भुत सृष्टि होगी जैसी कि हम देखते हैं।

इस पर यह कटाक्ष किया जा सकता है कि बोतल में तो अवकाश सीमा बद्ध है और उसके भीतर की वायु घट बढ नहीं सकती। इस कारण उसमें से एक अश के जमने पर दूसरे अश का फैल जाना सम्भव है परन्तु सृष्टि के चारों ओर भित्ति नही हैं। सृष्टि रचना सम्पूर्ण आदि तत्व में नही होती क्योंकि आदि तत्व के अपरिमित होने से उसका परिमाण नही हो

सकता। यह वैज्ञानिक अनुभव से भी प्रमाणित होता जैसा कि आगे दिखाया गया है। जिस स्थान पर कि सृष्टि रचना की क्रिया होती है उसके चारों ओर आदि तत्व का ही अपरमित विस्तार होता है और उस स्थान को सीमावद्ध करने के लिये यह अपरिमितता ही दुस्तार भित्ति का काम देती है। जब सिकुडन होती है तो जो अंश के निकट वर्त्ती होते हैं वह आवश्यकता अनुसार सूक्ष्म हो जाते हैं और इस सब के चारों ओर स्थिर आदि तत्व का वही अपरिमित विस्तार रहता है। फिर उस पिण्ड के भीतर भी घनता के अनेक भेद हो जायगे, क्योंकि निकट वर्त्ती आकाश स्थित और सृष्टियों का प्रभाव इस नवीन पिण्ड के सब अशों पर एक सा नहीं पड़ेगा वरन् स्थान के भेद से उन प्रभाओं की तीव्रता दिशा आदि में भेद हो जायगा और अनेक प्रकार की घनताएँ प्रकट हो जायगी।

इस सम्बन्ध में यह समझ लेना चाहिये कि सृष्टि की रचना जो ऊपर दिखाई है अपरिमित वस्तु के किसी विशेष स्थान में होती है। साधारणतया यह विचार किया जाता है कि ईश्वर ने सम्पूर्ण ससार को एक साथ उत्पन्न किया है। इस सिद्धान्त से प्रथम तो अपरिमितता पर दोष आता है और दूसरे यह विज्ञान सम्बन्धी अनुभव से भी विरुद्ध है। जिस समय नवीन सितारे और ग्रह चक्र उत्पन्न होते दृष्टि होते हैं उसी समय दूसरे तारे टूटते हुए और शनै शनै. आदि तत्व में परिणत होते ज्ञात होते हैं। आकाश के अपरिमित विस्तार में जहा एक स्थान में सृष्टि रचना हो रही होती है उसी समय दूसरे स्थान पर प्रलय होती है। इससे आदि तत्व के सभाव व गुणों में कोई भेद नहीं पडता। यह कटाक्ष हो सकता है कि ऐसी दशा में चेतनता सम्पूर्ण आदि वस्तु की एक व्यक्ति के समान नहीं है किन्तु

यह उस एक तत्व में ही पृथक् पृथक् स्थानों पर भिन्न भिन्न दशाओं में हो सकती है। ऐसी चेतनता विच्छेदात्मक है। यदि ऐसे सिद्धात की आवश्यकता पडे तो भी हमको सत्य की जिज्ञासा से मुह नहीं मोडना चाहिये। ज्योतिष सम्बन्धी अनुभवों का, जिनकी परीक्षा हो सकती है, खडन सहज नहीं है। इसके अतिरिक्त कोई वास्तविक कठिनता भी नही है। आदि तत्व के लिये एक अथवा अनेक चेतनताओं का कोई प्रश्न नहीं है क्योंकि उसमें अल्प सत्ताओं के समान व्यक्ति भाव नहो है। आदि तत्व में बीज रूप चेतनता स्वाभाविक है और उस स्वभाव को लिये हुए वह तत्व एक व अपरिमित है। यदि उसी एक तत्व में अनेक स्थानों में भिन्न भिन्न दशा हों तो उनसे उस तत्व की स्वाभाविक एकता व अद्वैत मे कोई भेद नही पडता। जैसे कि जड प्रकृति भिन्न भिन्न स्थानों पर भिन्न भिन्न दशाओं में स्थित है परन्तु इससे हमको यह कहने का अधिकार नही होता कि अमुक स्थान पर प्रकृति प्रकृति ही नहीं है या यह कि प्रकृति की तात्विक एकता व निरन्तरता में भेद पड गया। यह इस बात के स्मरण करने से प्रत्यक्ष हो जायगा कि ससार की प्रत्येक वस्तु उस आदि तत्व का ही एक रूप है और वह आदि तत्व अपने किसी भी रूप से पृथक् वा विरक्त नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टि से देखने से ज्ञात होता है कि बीज रूप चेतनता व विस्तृतत्व दोनों आदि तत्व के दो गुण मात्र हैं और जैसे कि उसके एक गुण विस्तृतत्व के भिन्न भिन्न स्थानों पर भिन्न भिन्न दशाओं में होने से कोई दोष उत्पन्न नही होता इसी प्रकार उसके दूसरे गुण चेतनता के भिन्न भिन्न दशाओं में प्रकट होने से कोई आपत्ति नही हो सकती। इस कटाक्ष का कारण कदाचित् यह है कि हमें चेतनता को एक अल्प सत्ता से सम्बन्ध रखने के

कारण व्यक्ति गत समझने का अभ्यास पड गया है। परन्तु यदि हम बीज रूप चेतनता को इसी प्रकार एक गुण समझें जिस प्रकार कि विस्तृतत्व को समझते हैं तो इसमें कोई कठिनता नहीं रह जाती। कुछ भी हो वैज्ञानिक अनुभव यह सिद्ध करता है कि जब एक स्थान पर सृष्टि रचना हो रही हो उसी समय दूसरे स्थान पर प्रलय हो सकती है। और इन अनुभवों में और हमारे सिद्धांत में कोई विरोध नहीं है।

एक यह प्रश्न हो सकता है कि सृष्टि रचना को आरम्भ करने को चेतनता की विस्तृत अवस्था मे क्षोभ किस कारण मे होता है। प्रथम तो यह पहले कह चुके हैं कि चेतनता एक स्वयक्रियात्मक शक्ति है और इस कारण वह स्वतः ही तीव्रता को प्राप्त होती हैं। वरन् सम्भव है कि इस विस्तृत व तीव्र अवस्था का नियत समय भी हो। दूसरे इस नियम के टूटने का भी कारण हो सकता है। कभी विस्तृत चेतनता वाले अंश में किसी टूटे हुये सितारे आदि के आघात से भी तत्काल चेतनता एकाग्र होने लगती है।

कदाचित् यही उस चित्र का तात्पर्य्य है जिसमें आर्य्य धर्म सम्बन्धी देवताओं के रूप में सृष्टि रचना दिखायी है। उसमें क्षीर समुद्र के जल से घिरे हुए भगवान् महाविष्णु सहस्र शीश वाले शेष जी की शय्या पर लेटे हुए हैं। विष्णु के चरणों के पास उनकी स्त्री, शक्ति, माया, लक्ष्मी है जिनकी सहायता से विष्णु ससार को रचते हैं। उनकी नाभि से एक कमल की डडी निकलती है और उसके सिरे पर एक खिला कमल है। उस कमल से ससार को उत्पन्न करने वाला ब्रह्मा प्रकट होता है। योगी नारद जी भी वीणा लिये खडे हैं। परिस्थित जल आदि तत्व का अपरिमित विस्तार है जो किसी विशेष सृष्टि के

चारों ओर होता है। शेष का अर्थ "कम" हैं और इसका संकेत उस सूक्ष्म वस्तु की ओर है जो चेतनता के एकाग्र होने व पिण्ड जमने से, शेष रह जाती है। इस शेष की शय्या पर विष्णु, अर्थात् धारण करने वाला, शयन करता है। और यह उस पिण्ड के स्वरूप हैं जिसके अन्तरगति सृष्टि प्रकट होती तथा स्थित रहती है। परन्तु अब विष्णु अकेले नहीं हैं किन्तु उनके साथ उनकी शक्ति, अर्थात् कम्पन शक्ति जिससे सृष्टि होती है, भी है। वह कमल की लम्बी डंडी एकाग्र होती हुई चेतनता का रूप है। जब यह एकाग्र हुई चेतनता विकसित होती है तो कमल के फूल के समान खिल जाती है और उसमें से तीव्र चेतनता का परम वेग ब्रह्मा रूप संसार का कर्त्ता प्रकट हो कर चारों ओर सृष्टि रचना के सम्पूर्ण कार्य्यों में तत्पर हो जाता है और श्री नारद उस आदि आध्यात्मिक शब्द की ओर संकेत करते हैं जो आदि कम्पन का सहकारी था।

इस सम्बंध में यह भी विचारणीय बात है कि आर्य्यों की दार्शनिक पुस्तकों में किसी स्थान पर तो ईश्वर में व्यक्तिगत स्वरूप और गुण कहे हैं कि जिन पर हम विचार कर चुके हैं और दूसरे स्थानों पर उसको अव्यक्त व अकर्त्ता कहा है जो अपना ही यज्ञ कर के सृष्टि रचता है। उसमें ज्ञान नहीं है परन्तु वह चेतनता से रहित भी नहीं है। किन्तु उसकी सूक्ष्म चेतनता केवल "बोध मात्र" है जो बीज रूप चेतनता को ही दूसरों शब्दों में निरूपित किया गया है।

इन सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए यह ज्ञात होता है कि आर्य्यों के विविध दर्शन परस्पर विरोधी नहीं हैं वरन् परस्पर पूर्त्ति करने वाले हैं। जब ऋषि ने देखा कि मनुष्य अपनी आध्यात्मिक आवश्यकताओं को संसार की प्रवृत्ति में पूर्णतया

भूले हुए हैं तो साख्य शास्त्र का सिद्धान्त प्रकट हुआ जिसने पुरुष को निश्चल, शान्त, अकर्त्ता व द्रष्टा के रूप में निरूपण किया और प्रकृति को संसार का रचने वाला व कर्त्ता बताया। जीवात्मा भी पुरुष है। अस्तु उसका वास्तविक स्वभाव निश्चित व शान्त होना है। उसका स्वभाव चिन्तित अथवा दुखी होना नही है जैसा कि मनुष्य अपने रूप के अज्ञान से अपने को बना लेते हैं। इस अज्ञान का नाश करना ही मुक्ति प्राप्त करने का उपाय है। यह स्मरण रखने की बात है कि प्रकृति के अर्थ स्वभाव के हैं। आदि तत्व, जब तक कि उसमें कम्पन उत्पादक चेतनता की एकाग्रता प्रकट नही होती तब तक केवल बीज रूप चेतनता को ग्रहण किये हुए यथार्थ में शान्त निश्चल और अकर्त्ता आदिक है। परन्तु उसका स्वभाव चेतनता की कम्पन उत्पादक एकाग्रता, संसार का क्रियाशील कारण है। कम्पन के प्रकट होने से सृष्टि प्रकट हो जाती है। चेतनता सहित पुरुष चैतन्य है परन्तु कम्पन अथवा एकाग्रता स्वय जड़ हैं अतएव पुरुष चैतन्य और प्रकृति जड है।

परन्तु इससे मनुष्यों के कर्मों से रहित हो कर आलसी बन जाने का भय था। अतः एक और ऋषि ने कहा कि प्राकृति (जिससे तात्पर्य्य जड विस्तृतत्व का था क्योंकि यह जड सृष्टि का तत्व रूप है, और जड सृष्टि के अर्थों में प्रकृति शब्द का प्रयोग होने लगा था) जड है और इस कारण क्रिया नही कर सकती और ससार को नही रच सकती। यह केवल सृष्टि का उपादान कारण हो सकती है जिससे चैतन्य ब्रह्म सृष्टि को रचता है। यहां पर चेतनता से प्रयोजन बीजरूप चेतनता से है जो क्रिया शील हो कर सृष्टि को रचती है और अनेक रूपों को प्रकृति अर्थात् विस्तृत्व से प्रकट करती है।

परन्तु इसमें भी भय था कि मनुष्य ब्रह्म और प्रकृति को दो और विरोधी न समझने लगें। अतः एक और ऋषि की आवश्यकता हुई जिसने कहा कि प्रकृति ब्रह्म से पृथक् नहीं वरन् उसी से प्रकट होती है। इन सब में सत्य का अंश है परन्तु उस को न जानने के कारण और प्रत्येक सिद्धान्त के प्रयोजन व अवसर को न जानने से मनुष्यों ने यह विचार कर लिया कि प्रत्येक सिद्धान्त सम्पूर्ण है। इससे आगे चलकर एक नवीन सिद्धान्त निकल आया कि संसार पूर्णतया असत्य है। इस पर विचार हो ही चुका है।

यह भी विचारणीय है कि जो लोग यह कहते हैं कि ईश्वर जीव, प्रकृति तीनो अनादि व अविनाशी हैं उनके सिद्धान्त में भी एक सत्य का अंश है। सृष्टि की रचना आदि तत्व के स्वभाव से ही होती है। उस आदि तत्व की सत्ता के साथ उसका स्वभाव भी अवश्य स्थित होगा। और जब हम आदि तत्व का आदि नहीं कह सकते तो उसके स्वभाव का भी आदि नहीं हो सकता। उस स्वभाव का परिणाम ऐसी सृष्टि है कि जिसमें जड व चैतन्य दोनो प्रकार के पदार्थ हैं। हम कोई समय नियत नहीं कर सकते जब प्रकृति अथवा जीवात्मा प्रथम प्रकट हुए। परन्तु यह प्रकृति व जीवात्मा की सत्ता के सिद्धान्त के सम्बन्ध में सत्य हो सकता है। इसका अर्थ यह कभी नहीं हो सकता कि कोई विशेष जीवात्मा वा जीवात्माएँ अथवा जड प्रकृति का कोई रूप वा अमुक सृष्टि या कोई सितारा अनादि है। जीवात्मा व प्रकृति का प्रत्येक रूप आदि तत्व से ही प्रकट हुआ और आदि तत्व में ही अवश्य समा जायगा।

———

ॐ राम

५–जीवात्मा

पिछले पाद में सृष्टि रचना के मूल सिद्धान्त पर विचार हो चुका है। यद्यपि मूल सिद्धान्त को विवेक से निश्चित कर सकते हैं तो भी उसकी सम्पूर्ण क्रियाओं का निरूपण करना कठिन है। क्योंकि वह समय समय के विशेष विशेष सयोगों से इतने भिन्न भिन्न रूप धारण कर लेती हैं कि उन में रूपान्तर की नियत सीमा नही रहती। परन्तु मुख्य मुख्य वात वास्तविक स्वभावों पर निर्भर रहती हैं। सपूर्ण सम्भावनाओं पर विचार कर उनमे जो असम्भव प्रतीत हों उन को त्याग कर सम्भव को ग्रहण करने से ऐसे स्वभाव का ज्ञान हो सकता है। इस स्वभाव के ज्ञात होने पर मूल सिद्धान्त पीछे की विविध क्रियाओं की अपेक्षा अधिक निश्चित रूप से जाना जा सकता है।

सृष्टि की विविध रचनाओं के सम्बन्ध में भी बहुत से सिद्धातो का कथन है। कुछ लोग अनेक लोक, खड, द्वीप आदि की, जिन के अनेक रूप और गुण हैं, कल्पना करते हैं। कोई कोई यह भी ठेका लेते हैं कि वह नाना लोकों में स्थित असख्य प्रकार की जीवात्मा, पदार्थ व रूपों का हाल, जो कि साधारण मनुष्य के ज्ञान से परे है, हमें बता सकते हैं। परन्तु इन रहस्यों से चाहे वह सत्य हों अथवा असत्य हमें कोई प्रयोजन नही। हमारे लिये तो संसार की विशेष रचनाओं का ज्ञान उस पदार्थ विज्ञान में उपस्थित है जिसे कि वैज्ञानिको ने बडी योग्यता व कष्ट से एकत्रित किया है। परन्तु हमारे मूल सिद्धान्त की पूर्त्ति के लिये ही इतना दिखाना आवश्यक है कि जड और चैतन्य का भेद किस प्रकार से हुआ।

वीज रूप चेतनता के एकाग्र होते ही एक पिण्ड पहले से अधिक स्थूल दशा में प्रकट हुआ। एकाग्रता की क्रिया फिर भी होती रही और उस क्रिया के साथ वह पिण्ड भी अधिक अधिक सिकुडता रहा। यही नही किन्तु उस के सिरे के भागों की चेतनता एकाग्र चेतनता के केन्द्र की अपेक्षा अधिक शिथिल हो गई। आकाशवर्ती सितारों के प्रभाव व अन्तरीय क्षोभ के कारण उत्पन्न हुए कम्पन से स्थूलता अवश्य वढी होगी। कमल के खिलते ही चेतनता की किरण चारों ओर फैल जाती हैं। इस अवस्था में जड और चैतन्य का भेद प्रकट हो सकता है। उन भागो से जिन में ज्ञान किरणो ने प्रवेश किया जीवात्मा वनी और जो भाग कि इन किरणों के वीच में रहे उन्हों ने जड पदार्थों का रूप धारण किया। इन किरणों का किसी अश में प्रवेश करना और किसी में न करने का कारण यह है कि कमल के खिलने, अर्थात् एकाग्रत चेतनता के विस्तृत होने, से पूर्व ही उस पिंड में घनता के अनेक भेद प्रकट हो जाते हैं जैसा कि पहले दिखा चुके हैं।

जब तक प्राकृतिक पदार्थ जिन से कि शरीर वनता है प्रकट न हों तव तक वह चैतन्यात्मक परमाणु ईथर सदृश अथवा उस से भी सूक्ष्म दशा में रहेगा। और जव वह सव पदार्थ उत्पन्न होकर यथा परिमाण एकत्रित हो जाते हैं तो चैतन्यात्मक परमाणु उस में आकृष्ट हो जाता है। इन पदार्थों के सयोग में मिल कर स्पर्श से उन की उस शिथिल और सूक्ष्म चेतनता मे चैतन्यात्मक परिमाणु नवीन शक्ति का सचार कर देता है और वह सम्पूर्ण सयोग जीवित पदार्थ कहलाने लगता है। इस आरम्भिक एक जीव रूपी शरीर से फिर और वढती हो सकती है। जव शरीर में आवश्यक पदार्थ अधिक वढे तो उस के दो टुकड़े हो

गये और उस दूसरे में एक और चैतन्यात्मक परमाणु आ बैठा जिससे एक नवीन जीव उत्पन्न हो गया। जब ऐसे कई शरीर जुड़े रह जावें और उस सगठन में वाह्य आघातों द्वारा विशेप धर्म प्रकट हो जाय तो पहले से अधिक शक्तिमान् जीवात्मा उस शरीर सगठन मे आ बैठेगा। जीवात्मा के संगठन में भी संकीर्णता कई कारणों से उत्पन्न हो सकती है। एक तो बहुत से चैतन्यात्मक परमाणुओं से मिल कर कोई जीवात्मा सगठित हो सकता है अथवा उस एक जीव रूपी शरीर में बहुत से अनुभवों के एकत्रित होने के कारण आत्मिक शक्तियों के विकाश होने से जीवात्मा के स्वरूप मे भेद हो सकता है। यह स्मरण रखना परमावश्यक है कि चैतन्यात्मक परिमाणुओं में जो वायु व ईथर से भी अधिक सूक्ष्म हैं लचकन अवश्य होनी चाहिये, और इसी कारण से उस के रूप मे परिवर्तन होना भी सम्भव है। जिस प्रकार जड पदार्थों के परिमाणुओं के रूप भिन्न २ होने से उन के गुण भी भिन्न २ हो जाते हैं इसी प्रकार चैतन्यात्मक परिमाणुओं के रूप में अन्तर होने से विविध प्रकार के जीवात्मा प्रकट हो सकते हैं। जीवात्मा की शक्तियों के विकाश से स्वभावतः ही जीवात्मा के रूप में भी कुछ न कुछ अन्तर होगा। तीसरा कारण यह भी हो सकता है कि शरीर के पदार्थों की सूक्ष्म चेतनता का प्रभाव भी जीवात्मा पर पड़े क्योंकि उनकी चेतनता भी जीवात्मा के ससर्ग से विकसित होती है।

इस सिद्धात से असख्य प्रकार के जीवात्मा सम्भव हो सकते हैं। परन्तु इनके भेद परस्पर विरोधी नहीं हैं। क्यों कि जीवात्मा का रूप वायु से भी अधिक लचकदार होता है। प्रत्येक जीवात्मा के रूप में उसके विशेप स्वभाव अंकित होंगे और वह उसी शरीर की ओर आकृष्ट होगी जिस में कि उन स्वभावों की

प्रवृत्ति हो सके। इस प्रकार जीवात्मा एक प्रकार के शरीर को छोड कर किसी अन्य योनि के शरीर को भी धारण कर सकता है। इस से यह भी सम्भव है कि जो जीवात्मा एक योनि को छोड दूसरी में आया है वह उस नई योनि में किसी नवीन क्रिया शक्ति का भी प्रकाश कर सके और इस प्रकार उस योनि के अनुभवों की वृद्धि कर सके। परन्तु यह साधारण नियम नहीं हो सकता। साधारणतया जीवात्मा अपनी ही योनि में शरीर बदलता रहेगा और जब वह उस योनि के सगठन में पूर्ण हो जायगा तब अगली योनी में अपने आप नियमानुसार चला जावेगा। यह भी विचारणीय बात है कि योनियों की भिन्नता व्यक्तियों के परिवर्तन से नही होती वरन् व्यक्ति समूह के परिवर्तन से होती है। यही कारण है कि मनुष्य की उत्पत्ति जो बन्दर से कही जाती है वह अब नही होती। इस का कारण यह है कि एक व्यक्ति समूह जो किसी विशेष सासारिक परिस्थिति में रहता है वह समूह का समूह उस परिस्थिति के अनुसार स्वभाव बना लेता है। और इस उन्नति को जारी रखने के लिये जीवात्मा की कमी नही होगी क्योंकि नवीन शरीरों के लिये जीवात्मा पुराने शरीरों के अन्त होने से प्राप्त होते रहेंगे।

इन बातों का जो कुछ भी प्रबध हो परन्तु दो सिद्धात तो आध्यात्मिक उत्पत्ति के विचार से प्रत्यक्ष हैं। एक यह कि चैतन्यात्मक परमाणु लचकदार है। इस से मन के अनुभव उसके रूप में अकित हो सकेंगे। दूसरा यह कि जीवात्मा में जड पदार्थों को भी अपने ससर्ग से सचेतन करने की शक्ति है। इसका एक आरम्भिक रूप मन के सयम से जड पदार्थों में कम्पन उत्पन्न कर देना है। इस के मानने में कोई भी आपत्ति नही है कि एक मनुष्य की चैतन्य शक्ति का प्रभाव दूसरे पर पडता है। इसी से अनेक

प्रकार के विचार दूसरों में उत्पन्न किये जाते हैं। दूसरों के भाव जनता में फैल जाते हैं और दूसरों का तात्पर्य्य व प्रयोजन समझ में आता है। इस से अधिक बढी हुई दशा में यह गुण मैसमेरेजिम, हिपनोटिजम, व टेली पैथी आदि मे पाया जाता है। जब यह बातें दूर से ही सम्भव हैं तो जब जीवात्मा शरीर के भीतर है तो उस का प्रभाव उन पदार्थों पर जिन से कि उस का स्पर्श है अवश्य ही इन दशाओं की अपेक्षा अधिक गहरा होगा।

ओ३म् राम

६—मनुष्य शरीर।

प्राचीन आर्यों के दर्शन शास्त्र की गम्भीरता से चकित हो, जिस समय कि और जातियां सभ्यता की आरम्भिक अवस्था मे ही थी उस समय के आर्यों द्वारा अविष्कृत योगाभ्यास की अद्भुत क्रियाओं से अचम्भित हो कुछ लोग विश्वास करने लगे हैं कि आरम्भ में ही "अग्निपुत्र" अथवा पूर्णोन्नत जीव आत्माओं ने ससार में ज्ञान का प्रकाश किया। इसी विचार से "थियोसोफीकल सुसाइटी" की विख्यात सभापति डाक्टर ऐनी बीसेण्ट ने अपनी "बिलडिंग औफ दी कौसमौस" (सृष्टि की रचना) नामक पुस्तक में एक बडी अद्भुत बात लिखी है। उन के विचार में जब सृष्टि प्रलय पर ब्रह्म में समा जाती है तब उस सृष्टि के आत्मोन्नति को प्राप्त हुये जीवआत्मा अपने आदि कारण परब्रह्म में मिल तो जाते हैं पर अपनी विशेष २ उन्नति के अनुसार कुछ न कुछ व्यक्तिगत भाव बनाये रखते हैं। जब नई सृष्टि बनती है तो वह अपने ज्ञान को लिये फिर शरीर धारण करते हैं और

अपना ज्ञान आदि मनुष्यों को देते हैं। जिस समय यह आत्मा ब्रह्म में विलीन रहते हैं उस समय उन का ज्ञान भी परब्रह्म में ही रहता है। क्योंकि उनके और परब्रह्म के शरीर में कोई भेद नही है। इस सिद्धात के तार्किक परिणाम को वह इन शब्दों में स्वीकार करती हैं " क्योंकि प्रत्येक उस ज्ञान को जिसको कि पूर्व के असख्य मनवन्तरों में प्राप्त किया था अगले मनवन्तर में साथ लाता है। और इस प्रकार हमारी समझ में आने लगता है कि जैसे चेतनता तुरीय अवस्था को प्राप्त कर फिर अलपज्ञता को प्राप्त हो जाती है इसी प्रकार परब्रह्म की अपरिमित चेतनता भी अन्तर में समा कर फिर प्रकट हो सकती है। और जिस प्रकार हम अपने अनुभव को भूल नही जाते वरन् लौटने के साथ वह फिर प्रत्यक्ष हो जाते हैं उसी प्रकार जो हमारे अल्परूप में सम्भव है वही उस अविनाशी के सम्बध में भी किसी विशेष रूप में ठीक होगा। और उस का अविनाशी जीवन भी असख्य मनवन्तरों के असख्य अनुभवों से कुछ न कुछ उन्नति करता होगा। इस सदैव बढती हुई उन्नति का परिणाम हमारे लिये वृद्धि है—उस के लिये क्या है यह सिवाय उस के कोई नही जान सकता!" (पृष्ठ ३८) इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि आदि तत्व अथवा परब्रह्म उन्नति शील पदार्थ हैं। उसकी चेतनता व ज्ञान कदाचित् पूर्व समय में ऐसा नहीं था जैसा अब है और भविष्य में यह क्या होगा यह भी कोई नही कह सकता। पर ऐसी सत्ता न तो विस्तृतत्व के विचार से और न समय के विचार से ही अपरिमित हो सकती है उन्नति शब्द के अर्थ ही से किसी सम्पूर्ण व्यक्ति की उन्नति प्रकट होती है। सम्पूर्ण व्यक्ति का अर्थ ही परिमित सत्ता है। उन्नति तभी हो सकती है जब किसी की आदि हो। हम कभी यह नही कह सकते कि उन्नति यहा से आरम्भ होती है जब तक कि

हम उस पदार्थ की सत्ता की आदि तक न पहुच जायं। क्यों कि सम्भव है कि वह पद भी उन्नति का ही परिणाम हो। उसके आदि के पूर्व भी कोई वस्तु अवश्य होगी। फिर ऐसी उन्नति का अन्तिम परिणाम परब्रह्म को भी ज्ञात नहीं हो सकता। क्यों कि उस की इस समय की अर्धउन्नत दशा होने से वह भी पूर्ण उन्नति का विचार नहीं कर सकता। वास्तव में ऐसी पूर्ण उन्नति कुछ होगी भी या नहीं यह कोई नहीं कह सकता। इस सिद्धात को अस्वीकार करने में तो धर्माचार्य्य व दार्शनिक दोनों ही सह मत होंगे। क्योंकि धर्म सम्बध से ईश्वर पूर्ण शक्ति वाला होना चाहिये और इस कारण उस में उन्नति का अवसर ही नहीं हो सकता। दार्शनिक विचार से भी आदि तत्व अपरिमित होगा। और उसके स्वाभाविक गुण प्रत्येक स्थान और समय में समान होने चाहियें। उस में उन्नति का कोई प्रयोजन नहीं।

मनुष्य जाति के आदि गुरु चाहे इस से पूर्व सृष्टि में उन्नत जीवात्मा थे अथवा वह और सृष्टियों में उन्नति प्राप्त कर के भ्रमण करते हुए हमारी सृष्टि में आ पहुचे। परन्तु यह आवश्यक है कि वह गुरु का काम शरीर धारण कर के ही कर सके होंगे। भूतात्मक शरीर और मानसिक शरीर में वडा भारी भेद है। जब हम स्वप्न-अवस्था व एक प्रकार की देहातीत वृत्ति में हों अथवा जव हम विचार में मग्न होते हुए ध्यान में स्थित होने लगें तो हमें ज्ञात होता है कि हमारी विचार शक्ति उस दशा में हमारे भूता त्मक बन्धनों से बद्ध नहीं होती। हम जिस वस्तु को स्वप्न में प्राप्त करने की इच्छा करते हैं उस को कुछ अद्‌भुत विधि से प्राप्त कर लेते हैं। यदि स्वप्न में हम किसी राक्षस को देखें और उस के भय से सज्ञाहीन न होकर यह विचार करें कि अमुक प्रकार से उस राक्षस से जीत सकते हैं अथवा उस को मार सकते हैं

अथवा हम स्वय उस से बच सकते हैं तो तत्काल वह दशा प्रकट हो जाती है और हमें ऐसा अनुभव होता है मानों हम बच गये। उसमें दृश्यों का परिवर्तन अद्भुत शीघ्रता से होता है। जब विचार करते करते हम ध्यानवस्था में होने लगते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे विचार ही प्रत्यक्ष रूप धारण करते जाते हैं। जैसे हम किसी मकान अथवा पुरुष का विचार करते हों तो वह मकान या मनुष्य हमारे नेत्रों के सन्मुख चित्रित हो जाता है। दूसरी ओर जागृत् अवस्था में हमारी विचार श्रेणी को बाह्य सत्ताओं से एक धृष्ट आघात सा लगता है और इस आघात से हमारी चेतनता उत्तजित हो जाती है जिससे हमारी शक्ति की सीमा का हमें तीव्र अनुभव होता है। भूतात्मक शरीर के इस प्रत्याघात व प्रतिकार से चेतनता की तीव्रता में वृद्धि होकर विचार शक्ति शनै शनै उन्नत हो जाती है।

मनुष्य शरीर में यह विचार शक्ति पूर्णता को प्राप्त होती है। विचार पद पद पर भौतिक अनुभवों से सीमाबद्ध होने से नियम युक्त हो जाता है। कथन शक्ति व भाषा का उदय मनुष्य की विशेषताएँ हैं और इन्हो से ज्ञान का सचय करना भी सम्भव हो गया है। सचित ज्ञान सदैव यह स्मरण कराता रहता है कि हमारे पूर्वजों ने क्या प्राप्त किया और उस से हम को उन्नति करने की उत्तेजना करता रहता है। विचार करने के अभ्यास से विचार शक्ति स्वय ही बढती रहती है। विचारों का नियमबद्ध होना उस समय नष्ट हो जाता है जब उनका भौतिक सीमा से ससर्ग छूट जाता है जैसा कि स्वप्न अवस्था व ध्यान अवस्था में होता है। कदाचित् इस बात का कारण यही है कि जब शरीर रहित जीवात्मा साधकों द्वारा बात चीत करती हैं तो एक आश्चर्य्य मय ससार का हाल कहती है जहा प्रत्येक जीवात्मा अपनी इस संसार

की परम इच्छाओं को प्राप्त हुई प्रतीत होती है। यही इस बात का भी कारण है कि जिन्होंने बडे बडे पाप किये होते हैं उनको अपने मानसिक जीवन में प्रत्यक्ष नरक दीखता है। जब वह अपने भूतात्मक शरीर में होते हैं तब भी कभी कभी बड़े भयभीत हो जाते हैं और मृत्यु के समय तो उनका भय असह्य हो जाता है। जब इस शरीर में होने से सांसारिक यथार्थ दशाओं का ज्ञान हो सकने पर भी उनकी ऐसी दशा हो जाती है तो फिर क्या आश्चर्य्य है कि जब उन की विचार शक्ति पूर्णतया स्वतन्त्र हो जाय तो उन को दुस्तर नरक का सा अनुभव हो। यह भी स्वाभाविक है कि ऐसे मानसिक जीवन का थोडा सा समय भी युग के समान प्रतीत हो। इसीलिये स्वप्नावस्था के दो चार घण्टे हमें महीनों और वर्षों के समान प्रतीत होते हैं। हमारा विचार ही हम से सब करा लेता है। उस जीवात्मक सगठन में जिसके रूप में तो विचार शक्ति सम्बधी अन्तर हो गया है परन्तु जिसने इस स्थूल शरीर को छोड दिया है विचार शक्ति की क्रिया प्रायः स्वतन्त्र हो जाती है। परन्तु यह विचार शक्ति उन्ही शैलियों, विचारों और विश्वासों के अनुसार कार्य्य करेगी जिन्होंने कि सासारिक जीवन में बार बार होने से जीवात्मा के स्वरूप में स्थान प्राप्त कर लिया है।

इन गुणों से मनुष्य शरीर को एक विशेषता प्राप्त है। इस शरीर द्वारा सचेत होकर स्वतन्त्रता से संसार के आघातों के विचार युक्त प्रतिकार व प्रत्याघात करने की शक्ति के कारण अपनी इच्छा से आत्मोन्नति करने का सुभीता इसी शरीर में है। हम तर्क कर सकते हैं, अनुभव भी कर सकते हैं और इस प्रकार किसी कार्य्य के करने की सर्वोत्तम विधि को प्राप्त कर सकते हैं। धर्म, ईश्वर, पुण्य, पाप, प्रेम, पवित्रता, उपासना, ध्यान, योग

के सिद्धांतों की उत्पत्ति, व अनेक पदार्थ विज्ञानों की वृद्धि यह सब जीवात्मा व भूतात्मक शरीर के सयोग से ही हुए हैं। आत्मिक उन्नति से शरीर जीवात्मा के लिये अपने ही स्वरूप के ज्ञान को प्राप्त करना सम्भव कर देता है। मनुष्य शरीर को प्राप्त कर के जीवात्मा ईश्वर को भी प्राप्त कर सकता है। "मनुष्य ईश्वर का प्रतिबिंब है" इस कथन का यही रहस्य है। इसी कारण आर्य्य धर्म ग्रथ कहते हैं कि देवता भी मनुष्य शरीर का आदर व इच्छा करते हैं।

यह दिखाया जा चुका है कि जीवित शरीर के जड पदार्थों की सत्तेजित चेतनता भी चैतन्यात्मक परमाणु पर प्रतिक्रिया कर सकती है। मनुष्य शरीर मे केवल भूत पदार्थ ही नही वरन् असख्य जीवित जन्तु भी हैं। अस्तु ऐसे शरीर की प्रतिक्रिया और भी तीव्र होगी। दूसरे जिस प्रकार बहुत से मनुष्यों से बनी हुई समाज के सदस्यों में एक प्रकार का सयुक्त भाव होता है इसी प्रकार शरीर में सगठित असख्य जन्तुओं की चेतनता से भी एक सयुक्त भाव प्रकट हो जायगा और इन जन्तुओं में अति-निकट व घनिष्ट ससर्ग होने से वह भाव समाज सगठित मनुष्यों के भाव से अधिक गहन व अविच्छिन्न होगा। दूसरी ओर जीवात्मा ने भी इस शरीर के यथोचित योग्यता प्राप्त करने में बहुत सी नवीन शक्तियां प्राप्त कर ली हैं ऐसी जीवात्मा व ऐसे शरीर के गहन व सयुक्त भाव की परस्पर तीव्र प्रतिक्रिया से मध्यस्थ ईथर अथवा दूसरा कोई सूक्ष्म पदार्थ जो शरीर के खोखले स्थानों में भरा हुआ हो सतेजित हो कर एक प्रकार का ईथरी शरीर बना सकता है जो जीवात्मा व शरीर के सम्बन्ध में ग्रन्थि का काम करे। शरीर के विविध भाग जो शारीरिक सयुक्त भाव द्वारा जीवात्मा को आकर्षित करते हैं उससे जीवात्मा

की चेतनता उनकी ओर खिच कर मध्यस्थ ईथर को सतेजित कर सकती है। एक सूक्ष्म भूतात्मक शरीर वाले जन्तु के लिये ऐसे प्रवन्ध की आवश्यकता न हो परन्तु जैसे जैसे शरीर का संगठन सकीर्ण होता जाता है वैसे ही शरीर व जीवात्मा की परस्पर प्रतिक्रिया भी गहन होती जाती है। कदाचित् इन्ही कारणों का परिणाम यह है कि कभी कभी हमको एसा अनुभव होता है कि हमारी शारीरिक इच्छा हमें हमारी इच्छा के विरुद्ध घसीट ले जाती है और कभी कभी इस घिसटने का निरोध हम अपनी सम्पूर्ण चैतन्य शक्ति से करने हैं। हमारे शारीरक मन का (जो शारीरिक जन्तुओं के सयुक्त भाव व जीवात्मा की प्रतिक्रिया का फल है) यह कृत्रिम-मानसिक कार्य्य इच्छित वस्तु के विचार के, प्रभाव को, जोकि आध्यात्मिक मन के सन्मुख उपस्थित होता है, प्रभाव वढा देता है। यदि आध्यात्मिक मन उस इच्छा के विरुद्ध निश्चय करता है तो उसे शारीरिक मन को वश में करने के लिये विशेष शक्ति का प्रयोग करना पडता है। इससे इस बात का रहस्य समझ में आजाता है कि निर्मल बुद्धि व मन की उन क्रियाओं में जिनमें कि शारीरिक आवश्यकताओं इच्छाओं का समावेश रहता है इतना तीव्र भेद क्यों प्रतीत होता है। यही कारण इसका भी है कि कुछ मनुष्यो को जीवात्मा के शारीरिक सङ्गठन के परिणाम होने का सिद्धान्त इतना अच्छा लगता है। जैसा कि पहले पाद में कह चुके हैं यह शारीरिक मन कभी कभी विशेष वृद्ध को प्राप्त कर के सहात्मिक दशा को प्राप्त करता है।

ॐ राम

७--अमरता, आवागमन, मुक्ति अथवा निर्वाण।

प्राय. सब जो जीवात्मा की पृथक सत्ता मानते हैं उसको अविनाशी भी कहते हैं। जीवात्मा की अमरता ऐसी आवश्यक समझी जाती है कि वे मनुष्य भी जो कि इसको मानसिक क्रिया व विचारों का सगठन मात्र समझते हैं, अमरता के अर्थ करने की आवश्यकता समझते हैं और कहते हैं कि जीवात्मा का सार, अर्थात् उस व्यक्ति के विशेष विचार व स्वभाव, इस कारण से अविनाशी हैं कि वह सदैव के लिये आगामी मनुष्यों मे स्थित हो जाते हैं। जैसा भूमिका में दिखा चुके हैं यह सिद्धात तर्क को सहन नहीं कर सकता। इस से कोई ऐसी स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध नहीं होती जो अविनाशी हो सके। वह विशेष विचार व स्वभाव आगामी मनुष्यों में स्थान पावें और न भी पावें। नष्ट हुए महाद्वीप ऐटलाण्टा के निवसियों की जीवात्मा इस विचार से अमर नहीं कही जा सकती। दूसरी ओर भारतीय दार्शनिक भी जीवात्मा को अविनाशी मानते हैं। जिस सिद्धात में जीवात्मा की अमरता के साथ प्रकृति व ईश्वर की स्वतत्र सत्ता भी मानी गई है उन पर तो विचार हो चुका है और यह दिखा दिया गया है कि आदि तत्व की अपरिमितता का विरोधी होने से यह सिद्धान्त असम्भव है। परन्तु आश्चर्य्य है कि जो जीवात्मा को परब्रह्म से उत्पन्न बताते हैं वह भी जीवात्मा को अविनाशी कहते हैं। यह तभी सत्य हो सकता है जब "जीव" से प्रयोजन तो आदि तत्व से उत्पन्न जीवात्मा हो और "आत्मा" का प्रयोजन आदि तत्व के उस अंश से हो जो जीवात्मा का आधार है। इस प्रकार

"आत्मा" अमर कही जा सकती है परन्तु जीव कदापि अमर नही हो सकता। जो जीवात्मा सृष्टि रचना में भिन्न भाव को प्राप्त होता है वह उस भिन्नता के नष्ट होने पर फिर आदितत्व में समाजाना चाहिये। जैसे जड पदार्थ जो उसी प्रकार प्रकट होते हैं, और फिर उसी में समा जाते हैं।

कुछ धर्माचार्य्यों के और भी अद्भुत विचार हैं। वह जीवात्मा की उत्पत्ति तो मानते हैं परन्तु नाश स्वीकार नही करते। वे कहते हैं कि उस का आदि तो है परन्तु अन्त नही। यदि सब जीवात्माओं की एक वेर उत्पत्ति हो चुकी है तो किसी समय भविष्य में एक वडी अनोखी दशा प्राप्त होने वाली है। जब सब की मुक्ति हो जायगी, तब कदाचित् नवीन जीवात्मा उत्पन्न किये जायगे। ईश्वर की सत्ता के अतिरिक्त सम्पूर्ण स्थान जब तक मुक्त जीवात्माओं से भर न जायगा तब तक इसी प्रकार वह उन को उत्पन्न करता रहेगा। इस सिद्धांत में अपरिमितता नही हो सकती क्यों कि ईश्वर का व्यक्तिरूप होना व जीवात्माओं की संख्या से परिमित होना आवश्यक हो जाता है। यह समस्या तभी सुलभ सकती है जब जीवात्मा लय भी हो जाते हो जिस से चक्र पूरा हो सके। ऐसा चक्र अनन्त समय तक चलता रहे तो भी ऊपर की कठिनता उपस्थित न होगी।

कोई कोई तो आत्मा को अविनाशी ही नहीं कहते किन्तु यह भी कहते हैं कि इस शरीर को छोड कर जीवात्मा दूसरा जन्म नही लेता वरन् मुक्ति के दिन की राह देखता है। इस का एक अर्थ यह होगा कि मनुष्य व पशुओं के जीवात्मा विरोधी हैं और जीवात्मा की सुक्ष्म जंतु से सभ्य मनुष्य तक उन्नति नही होती। इस के अतिरिक्त प्रत्येक नवशिशु में एक नवीन जीवात्मा होगी। और एक समय वह आ सकता है जब कि सारी पृथ्वी मुक्ति

की राह देखती हुई जीवात्माओं से भर जायगी।

दूसरे कोई कारण भी नही दीखता जिस से जीवात्मा एक बार एक शरीर में प्रविष्ट हो सके परन्तु अनेक बार प्रविष्ट न हो सके, यदि पहला सम्बन्ध ईश्वर ने स्थापित किया तो भी वह नये बच्चो के लिये नवीन जीवात्माओं के सदैव बनाने का कष्ट उठाने की अपेक्षा एक ही जीवात्मा में अनेक शरीर धारण करने की शक्ति उत्पन्न क्यों नही कर देता। यह विधि पहली से अवश्य ही सहज तथा युक्तियुक्त व उचित है।

एक बडा कठिन प्रश्न यह है कि जो मनुष्य इस जीवन में बडा पापी रहा है और जिस की पाप मय वृत्ति मृत्यु के समय नष्ट नही हुई क्या वह भी मुक्ति के दिन स्वर्ग में अपनी वृत्तियों को साथ ले जायगा ? यदि ऐसा नही होगा तो उन वृत्तियों का नाश या सुधार कैसे होगा ? सुधार की साधारण विधि पापों का प्रत्याघात होना अथवा जान बूझ कर सुधार करना है। परन्तु इन दोनों विधियो में सत्कर्मो की आवश्यकता है जिन से पापिक वृत्तियों का विरोधी स्वभाव उत्पन्न होकर उनका नाश कर दे। परन्तु इस सिद्धान्त में ऐसा करने का अवसर ही नहीं मिलता। जीवन के पापों को ईश्वर भले ही क्षमा कर दे परन्तु वह पापिक वृत्तिया तो रह जायगी और इस परम क्षमा के पश्चात् भी वह स्वर्ग में पाप कर सकता है। यदि एक समय स्वर्ग में पाप करने पर शैतान नरक में डाल दिया गया तो स्वर्ग के नवीन पापी भी उसकी सगति के लिये जा सकते हैं। अतएव ईश्वर की कृपा का प्रमाण, विशेष पापों को क्षमा करने की अपेक्षा, यह अधिक प्रत्यक्ष होता कि वह इन पापिक वृत्तियो के ही नाश का अवसर देता। पापिक वृत्तियो को नरक का बडे से बडा कष्ट अथवा स्वर्ग का बडे से बडा सुख नष्ट नहीं कर सकता। कारागृह का प्रभाव

जो पक्के पापियों पर पड़ता है उस से यह बात प्रत्यक्ष है। यह सम्भव है कि नरक के दण्ड व स्वर्ग के सुख सांसारिक सुख और दण्डो से अधिक तीव्र हों परन्तु उसके साथ साथ पाप करने का स्वभाव अपराध करने के स्वभाव से अधिक गहरा होता है। दूसरा पहले ही का परिणाम है। दूसरा आपत्ति कारक तभी होता है जब वह समाज में दण्डनीय कार्य्य करा दे। परन्तु पहले का सांसारिक परिणाम साधारणतया प्रत्यक्ष में बुरा प्रतीत नहीं होता और इस कारण उस की वृद्धि के लिये अधिक अवसर मिलता है।

अतएव धामिक विचार से पुनर जन्म अधिक उचित है। और दार्शिनिक विचार से तो पुनर जन्म का सिद्धान्त ही सत्य हो सकता है। हम देख चुके हैं कि मानसिक शक्ति, विचार व स्वभाव जीवात्मा के विशेष स्वरूप के कारण होते हैं। उस स्वरूप की बढती हुई स्थूलता का कारण उसमें एक प्रकार की आध्यात्मिक क्रियाओं के वेग का एकत्रित होना है। जब तक यह वेग शान्त न होगा, और उसके स्वरूप की स्थूलता नष्ट होकर जीवात्मा अपने भिन्नता रहित आदि रूप को प्राप्त नहीं करेगा तब तक वह नये नये शरीर धारण करता रहेगा। यह उस समय तक होता रहेगा जब तक कि जावात्मा आदि तत्व में लीन न हो जायगा। यह सम्भव है कि दूसरा उचित शरीर धारण करने से पूर्व जीवात्मा मानसिक जीवन व्यतीत करे परंतु उस जीवन से न तो वृत्तिया ही शात होगी और न वह स्थूलता हो नष्ट होगी। हां इतना हो सकेगा कि कुछ इच्छाएँ मानसिक सतुष्टि से शात हो जाय। मानसिक जीवन से वृत्तियां और भी दृढ़ हो जायंगी क्योंकि उन को स्वतन्त्रता से क्रिया करने का अच्छा अवसर प्राप्त होता है। परन्तु स्थूल शरीर के समान उस समय सचेत प्रत्याघात की

सम्भावना न होने से, वह किसी रोक के विरुद्ध कार्य्य न कर सकने से शात नहीं होती और जीवात्मा फिर किसी उपयुक्त शरीर से आकर्षित होगा। जो पहले सम्भव था वह फिर भी सम्भव होगा। इसमें कोई विवेक विरुद्ध मनगढन्त रोक नहीं हो सकती।

जब शुद्ध होते होते जीवात्मा का स्वरूप आदि तत्व के रूप को प्राप्त करता है तो वन्धनों से छुटकारा, निजात, मुक्ति, निर्वाण, मोक्ष, कैवल्य होता है। फिर वह दूसरा शरीर धारण नहीं करता क्योंकि उसका वह भिन्न रूप ही नष्ट हो जाता है। एकाग्र चेतनता की वह किरण जिससे जीवात्मा के रूप की उत्पत्ति हुई थी परिस्थित पदार्थ में विस्तृत हो जाती है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि ऐसी दशा सदैव रहेगी। इस सृष्टि की प्रलय के पश्चात् नवीन सृष्टि की उत्पत्ति के समय जब चेतनता फिर एकत्रित होगी तो आदि तत्व का वह अश जो पहले जीवात्मा था और जो क्षोभ मडल के अन्तर्गत है फिर अवसर के अनुसार जड या चैतन्य स्वरूप धारण करेगा। परन्तु इस सृष्टि की प्रलय व दूसरी के उदय तक वह मुक्त दशा में रहेगा।

सृष्टि के उदय होने के पश्चात् उस की क्रियाओं से वह शक्ति वेग जो उस को पूर्व में प्राप्त हुआ था शनै शनै शात होता जाता है। शक्ति अधिक शक्ति-सग्रह से अल्प-शक्ति-सग्रह की ओर जाती है। एकत्र चेतनता का वह केन्द्र जिस ने प्रथम वेग प्रदान किया था कदाचित् शात अथवा विस्तृत हो जाता है। यह निश्चय है कि सृष्टि के उदय व प्रलय दोनों में युगों का समय लग जाता होगा। चेतनता के एकाग्र होने की क्रिया में भी बहुत समय लगता होगा। यह ऐसी क्षणिक क्रिया नहीं हो सकती जैसी कि हमारी तीव्र व अल्प चेतनता में होती है। इस

अन्तरीय वेग के शांत होने से स्वभावत. प्रतिकार व वस्तुओं का विलय होना आरम्भ हो जायगा। कहते हैं कि तब सूर्य ठडे हो जाते हैं और पृथ्वी जीवधारियों से रहित हो जाती है। जीवात्माओं की चेतनता भी शांत व विस्तृत होने लगेगी। चैतन्यात्मक परमाणुओं के विशेष स्वरूप अपने आधार के न रहने से सरल व एक रस होने लगेंगे। जो जीवात्मा अपने स्वरूप को अब भी बनाये रखते हैं वह दूसरे शरीर धारण करने के लिये निकटवर्त्ती रची हुई अथवा रचना क्रम में तत्पर सृष्टियों की ओर आकृष्ट हो जाते हैं। ऐसे स्वाभाविक लय से आवागमन के सिद्धांत पर दोष नही आता। यह कहना कि वह जीवात्मा जिन में मानसिक स्वभाव सजीव है और इस कारण विशेष स्वरूप को प्राप्त हैं उन को दूसरे शरीर, उन स्वभावों को शात करने के लिये धारण करने पडते हैं, इस से पूर्णतया भिन्न है कि प्रलय के समय यह मानसिक स्वभाव ही शात होने लगते हैं और जीवात्मा का स्वरूप भी असख्य जड पदार्थों के समान एक रस होने लगता है। यह दूसरी क्रिया उस समय नहीं हो सकती जब मानसिक वृत्तिया तो प्रबल हो और प्रलय का समय न हो।

वास्तव में योगी, जो मुक्ति प्राप्त करने के लिये आध्यात्मिक क्रिया करते हैं, उसी समय मुक्त हो सकते हैं जब वह निर्विकल्प समाधि प्राप्त कर लें। उस दशा में उन को अपना अथवा और किसी वस्तु का बोध नही रहता। उन के उपस्थित स्वभाव इस जीवन से शात हो जाते हैं और वह नवीन संकल्प विकल्प से नवीन शरीर नही बनने देते। जब इस एक रस दशा में वह शरीर छोडते हैं तो आदि तत्व में लय हो जाते हैं। पुण्य मय जीवन, भक्ति उपासना से मुक्ति के लिये उचित दशा बनायी जाती है परन्तु यथार्थ मुक्ति निर्विकल्प समाधि से ही होती है। इस आध्या-

मित्क क्रिया में आध्यात्मिक शक्तियां भी प्राप्त होती हैं। उन की सरल जीवात्मा सृष्टि की सूक्ष्म शक्तियों से एक रस हो कर उन का प्रयोग कर सकती हैं। पूर्व में ऐसी सरल दशा होते हुए भी जीवात्मा इतने शक्ति शाली इस कारण नहीं थे कि उस समय उनमें विचार से प्रेरित हो कर कार्य्य करने की शक्ति नहीं थी। यह शक्ति उन में मनुष्य की जीवात्मा होने से आई और अब यह शक्ति उस को उन सूक्ष्म शक्तियों पर, जिन से वह एक रस हो रहा है क्रिया करने में सहायता करती है। इच्छाओं के दमन करने से जो आध्यात्मिक शक्ति की वृद्धि होती है चेतनता के प्रभाव को इस क्रिया में बढा देती है। परन्तु मुक्ति तब होगी जब इन आध्यात्मिक शक्तियों की इच्छा का भी त्याग होगा क्यों कि यह भी जीवात्मा को कर्म्मों की ओर खींच कर किसी विशेष स्वरूप को स्थित करती हैं। इस प्रकार त्याग ही से योगी निर्विकल्प समाधि प्राप्त करता है। कोई नहीं जानता कि प्रलय कब होगी, जो उस समय से पूर्व मुक्ति चाहते हैं उनको क्रिया करनी आवश्यक है। इस के अतिरिक्त उस समय भी असाधारणतया प्रबल इच्छा वाले जीवात्मा बच कर अप व्यक्तस्वरूप को बनाये हुए दूसरी सृष्टि की ओर आकृष्ट हो जाते हैं। अतएव निश्चिन्त होने के लिये मुक्ति के लिये कर्म करना उचित है।

ॐ राम

८—अवतारों का रहस्य।

यह कहा जा चुका है कि चेतनता में दूसरों पर प्रभाव डालने का अद्भुत गुण है। विविध पदार्थों की आकर्षण शक्ति एक प्रारम्भिक रूप है। प्रेम और सहानुभूति, में यह गुण विशेष वृद्धि प्राप्त करता है, इसी से उन में एक विशेप आकर्षण है,

जिससे दो जीवात्माओं का मेल हो जाता है। प्रेम प्रेमी को ध्
में मगन रख कर उस के मन को पवित्र व सरल करता है। इ
से मन की चंचलता का निरोध होता है। इसी कारण आत्म ज्ञान
अपने इष्ट देव के लिये अनन्य भक्ति प्राप्त करना चाहते हैं औ
कोरे ज्ञान से सन्तुष्ट नहीं होते। भाव ज्ञान को वश में कर सकत
है। प्रेम भी भाव है इस से वह केवल ज्ञान की अपेक्षा अधि
सुगमता से सासारिक प्रलोभन का विरोध कर सकता हैं। इ
के अतिरिक्त प्रेम के आकर्षण से उन आध्यात्मिक शक्ति वा
जीवात्माओं की सहायता प्राप्त हो सकती है जिन तक वह आक
र्षण पहुंच सके।

हलके व सूक्ष्म पदार्थ में स्थूल पदार्थ की अपेक्षा हरक
अधिक सुगम है। पवित्र मन पापी मन की अपेक्षा अधिक सूक्ष
पदार्थों व शक्तियों से एक रस होते हैं। अतएव पवित्र मनुष्य
की इच्छा में पापियों की अपेक्षा अधिक प्रभाव होता है। इस
का कारण केवल उनकी आत्मिक शक्ति ही नहीं किन्तु यह भी
कि उनकी शक्ति की क्रिया को घर्षण कम अनुभव होता है। इस
से स्वार्थ मय प्रेम का प्रभाव इतना नहीं होता। समय पाकर ज
पवित्र व सविनय प्रेम भक्ति का रूप धारण करता है तो उस मे
कुछ अद्भुत सूक्ष्मता, निश्चलता, पवित्रता व आनन्द आ जाते
हैं।

जब ससार में पाप और अन्याय बढ़ते हैं तो धर्मात्माओं का
जीवन कठिन और दुःखमय हो जाता है। कभी कभी महान
जीवात्मा उत्पन्न होकर अन्याय का विरोध करते हैं व उस को
नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। आसुरी शक्ति कुछ समय के लिये
चाहे दब जाय परन्तु शीघ्र ही फिर प्रबल हो जाती है। जब तक
हम अन्याय के साथ लडते हैं तब तक हमारे मन की आकर्षण

शक्ति अपने आप को लक्ष्य बनाये रहती है परन्तु अपनी त्रुटियां से हम अपनी आध्यात्मिक शक्तियो का प्रयोग नही कर सकते। जव पाप व अन्याय के अत्यन्त वढ जाने से मनुष्य अपनी रक्षा करने मे असमर्थ होते हैं, तो उनकी निराश्रयता से उनके हृदय से ईश्वर के प्रति यह शुद्ध मर्म भेदी प्रार्थना निकलती है कि वह स्वय आकर उन के कष्ट को निवारण करें। ऐसी प्रार्थना जव करोडों पवित्र व प्रेम परिपूर्ण हृदयों से निकलती है तो उस में असीम आकर्षण शक्ति होती है। और जव इस की लहर किसी ऐसे जीवात्मा तक पहुचती है जिसने कि ससार के कष्ट को दूर कर धर्म स्थापन करने के लिये यथेष्ट आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त कर ली हैं तो वह इस ओर आकर्षित होकर किसी धर्मात्मा के घर शरीर धारण करता है। ऐसा जीवात्मा अपनी आध्यात्मिक शक्ति के चिन्ह बालकपन से ही दिखाने लगता है और मनुष्य उस को अवतार कह कर उसकी उपासना करने लगते हैं।

जिस परमोन्नत जीवात्मा में ससार के कल्याण करने की इच्छा के अतिरिक्त और कोई व्यक्तिगत भाव जीवात्मक संगठन को उपस्थित रखने के लिये नहीं रहता वह जीवात्मा स्थूल शरीर को छोड कर भगवान् विष्णु के रूप से मानसिक जीवन व्यतीत करता है। विष्णु संसार के पालन करने वाले हैं क्योंकि वह पवित्र भक्तों की प्रार्थना से आकृष्ट होकर पाप को नाश करने और धर्म को स्थापन करने के लिये प्रस्तुत रहते हैं। उनके जीवात्मा का स्वरूप पूर्णतया विलीन ससार के कल्याण करने की इच्छा की प्रवलता के कारण नही हुआ, परन्तु उनकी आध्यात्मिक क्रिया से वह सव शक्तियां जो योग से प्राप्त होती हैं उन्हें प्राप्त हो चुकी हैं। अतएव जव ऐसा जीवात्मा शरीर धारण करता है तो उस में आध्यात्मिक शक्तियां शीघ्र ही प्रकट होने लगती हैं। अन्य पुरुषों

के सस्कारों को शांत करने के लिये वह जन्म धारण करते हैं, और उसी आवश्यकता के अनुसार उन का जीवन चरित्र बन जाता है जो देखने में उनके सस्कारों का परिणाम प्रतीत होता है। एक विशेष समय में उनकी आवश्यकता होती है। उस समय की आवश्यकताओं के अनुसार ही उनका जीवन होता है।

सम्पूर्ण आध्यात्मिक शक्तियों को प्राप्त कर शरीर धारण किये हुए ऐसा जीवात्मा ही सब से अधिक 'पूर्ण सचा ईश्वर' के समान हो सकता है। यदि वह चाहें तो अपनी इच्छा से पञ्च भूतों से भी कार्य्य करा सकते हैं। परन्तु वह ससार को उत्पन्न करने वाले या उस को नियम बद्ध रखने वाले नहीं हैं। वह सृष्टि के रहस्यों को जानते हैं और उनका प्रयोग भी कर सकते हैं। वह समय अथवा विस्तृतत्व के विचार से अपरिमित नहीं किन्तु उस अपरिमित तत्व के ज्ञाता हैं। उनके द्वारा वह सब कुछ कर सकते हैं जो प्राकृतिक सिद्धातो के अनुसार हो सकता हो। वह दया के समुद्र व कृपा के निधान हैं। उनकी न कोई जाति है न वह किसी विशेष धर्म वा देश के पक्षपाती हैं। उनकी दया सब के लिये जो उसके खोजी हों एक सी है। उनका दर्शन ही पवित्र करने वाला है। वह धर्मात्माओं की रक्षा के लिये जन्म धारण करते हैं। फिर ससार में धर्म का राज्य होता है और मनुष्य सुख से जीवन व्यतीत करते हैं। यह है विष्णु का पूर्ण अवतार। यदि ससार में कोई वस्तु प्रेम व भक्ति के योग्य है तो वह यह विष्णु हैं।

यह अवतार विशेष अवस्था में प्रकट होता है। केवल यही आवश्यक नहीं है कि ससार में असह्य अन्याय व दुख हो, परन्तु वह अन्याय से पीडित मनुष्य स्वय पवित्र, धर्मयुक्त व भक्त होने चाहियें, क्योंकि उसी समय उन की प्रार्थना में यथेष्ट आकर्षण

शक्ति हो सकती है। अतएव जब पाप और अन्याय की अधिक वृद्धि हो तो उसके नाश की सब से उत्तम विधि भगवान् के प्रेम व भक्ति का प्रचार है । चाहे वह भगवान् की सत्ता किसी रूप में समझें। अपने अपने ईश्वर के प्रति प्रार्थना, विचारों की एकता के कारण विष्णु भगवान् को ही पहुचेंगी। यदि वह इस सिद्धांत के रहस्य को समझ कर भक्ति करेंगे तो उनकी आकर्षण शक्ति का लक्ष्य ठीक रहने से उसका प्रभाव अधिक होगा।

विशेष अवतार को आकृष्ट करने के अतिरिक्त प्रेम व भक्ति चित्त की शुद्धि करने के कारण भी पाप निवारण में सहायक होंगे। इस से समाज में वह आत्मिक शक्ति उत्पन्न होगी जो केवल पवित्रता से ही प्राप्त हो सकती है और जिसकी अन्याय के साथ किसी प्रकार के भी युद्ध करने के लिये परमावश्यकता है।

पूर्णावतार के अतिरिक्त साधारण अवतार भी अनेक दर्जों की शक्ति वाले सन्त महात्माओं के स्वरूप में आत्मोन्नति द्वारा सदैव होते रहते हैं। अनेक उपदेश व आचरणों से वह संसार में दैवीय सम्पदा को बढा कर आध्यात्मिक स्रोत को सूखने से बचाते हैं। वह ससार की सब प्रकार से कल्याण कामना करते हैं। परन्तु सृष्टि के स्वाभाविक प्रवाह में हस्ताक्षेप नही करते, नहीं तो ऐसे हस्ताक्षेप का कोई अन्त न होगा। क्यों कि उसकी कुछ न कुछ आवश्यकता सदैव बनी रहती है। परन्तु जब अन्याय असह्य हो जाता है तो उनका आध्यात्मिक बल भी विशेष अवतार को आकृष्ट करने में सहायता देता है। जब मनुष्यों के सस्कार भगवान् की ओर लगेंगे तो वह स्वय उनके कष्ट निवारण के लिये प्रकट हो जायंगे। सन्त महात्मा उन सस्कारों को अपने प्रेम प्रभाव से उदय करने में सहायक होते हैं।

कुछ मनुष्य आपत्ति करते हैं कि भगवान् का अवतार

असम्भव है, भगवान् सर्वव्यापक हैं इस लिये परिमित शरीर में बन्द कैसे हो सकते हैं? सम्पूर्ण ससार का शासन करते हुए किसी एक देश अथवा एक पृथ्वी पर कैसे रह सकते हैं? यह युक्तिया उस समय उचित हैं जब ईश्वर में, चाहे वह साकार हो या निराकार, व्यक्तिगत भाव हों, क्योंकि एक व्यक्ति स्वरूप एक ही समय दो पृथक् पृथक् स्वरूपों में कैसे रह सकता है। अतएव अवतार का सिद्धान्त उन लोगों के लिये असम्भव है जो जीवात्मा, प्रकृति, व ईश्वर को पृथक् पृथक स्वतन्त्र सत्ता मानते हुए ईश्वर को ससार का रचयिता कहते हैं।

आदि तत्व प्रत्येक जड व चैतन्य पदार्थ में अवतीर्ण है। विष्णु रूप जीवात्मा अथवा उनका विशेष अवतार आदि तत्व का सब से अधिक उन्नति शील स्वरूप है। वह कल्पित सिद्धान्त के ईश्वर नहीं किन्तु वह सत्ता हैं जो यथार्थ में पूर्ण ईश्वर के सब से अधिक समान हैं।

परन्तु एक बात से सचेत भी रहना चाहिये। कभी कभी कोई पुरुष योग के किसी रहस्य को किसी प्रकार प्राप्त कर, उसके द्वारा किसी साधारण आध्यात्मिक शक्ति को प्राप्त कर, सर्वोच्च अवतार होने का दावा करने लगते हैं। इससे केवल नये पन्थ प्रकट हो जाते हैं और समाज मे झगड़े के नये कारण उपस्थित हो जाते हैं। अज्ञ मनुष्य सन्मार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं। ऐसे दावेदारों से सचेत हो कर व्यवहार करना उचित है। पूर्ण अवतार अत्यन्त विशेष अवस्था में प्रकट होते हैं। जब वह प्रकट होते हैं तो वह भिन्नता नही किन्तु एकता का प्रचार करते हैं। झगडे के बजाय शान्ति फैलाते हैं। उनका ज्ञान पूर्ण और उनके चिन्ह स्पष्ट होते हैं।

ॐ राम

९—सत्त्व, रज, तम।

सृष्टि रचना विधि में देख चुके हैं कि किस प्रकार निश्चल व शात दशा में क्रिया का उदय हुआ और उस क्रिया से किस प्रकार स्थूलता प्रकट हुई। जब तक क्रिया का उदय न हो तब तक निश्चल दशा स्थिर रह सकती है परन्तु क्रिया के प्रकट होते ही स्थूलता का प्राप्त होना स्वाभाविक है। इन तीनों दशाओं का नाम ही सत्त्व, रज व तम है। सत्त्व केवल शात सत्ता की दशा है। क्रिया की दशा रज है और रज का स्वाभाविक परिणाम स्थूलता तम है। यह शब्द उन स्वभावों के लिये भी प्रयोग होते हैं जिन से यह दशा प्रकट होती हैं। जब हम दो दशाओं की तुलना करेंगे तो उन में अवश्य ही कुछ न कुछ अपेक्षा भाव होगा। एक दशा दूसरी से अधिक सात्विक हो सकती हैं यद्यपि दोनों ही क्रियात्मक रज की दशा हों। वह क्रिया जो सात्विक दशा की ओर ले जाती हों उन क्रियाओं से अधिक सात्विक होंगी जो केवल रज की दशा को ही तीव्र करती हैं। परन्तु उन में कोई भी पूर्णतया सात्विक नही हो सकती।

इस विचार से प्रत्येक पदार्थ व क्रिया का कोई न कोई विशेष स्वरूप होगा। चोरी और प्राण हरण के भी इस प्रकार दर्जे हो सकते हैं। जो चोरी भूको मरते हुए भोजन प्राप्ति के लिये होगी वह उस चोरी से अधिक सात्विक है जो स्वाभाविक चोर करता है। क्योकि दूसरी दशा की अपेक्षा पहली का प्रयोजन शुद्ध है और शुद्धता सात्विक गुण है। निर्धन विधवा व नि सहाय बालक को चोरी तामसिक है क्योकि यह पापिक वृत्ति की बढी हुई दशा का चिन्ह है। किसी निर्बल व अन्याय से पोडित की रक्षा के

निमित्त धर्म युद्ध में प्राण हरण करना सात्विक है। सिपाही की आजीविका होना राजस है और स्वार्थ के लिये हनन करना तामस है। इस विचार से भोजन करना कि शरीर धर्म पालन करने के योग्य बना रहे सात्विक है। स्वाद के लिये भोजन करना राजस और दूसरों पर अत्याचार के निमित्त शरीर बलवान बनाने के लिये भोजन करना तामस है।

कोमल प्रेम मय, दयालु, ईमानदार और सत्यधारी स्वभाव सात्विक है। चतुर, उद्यमी, अनुसधानी स्वभाव राजस है। और क्रोधी, उग्र, मूर्ख और मत्सरी स्वभाव तामस है। स्वभाव ही नहीं वरन् शरीर में भी यह भेद हो सकता है। शुद्ध कोमल और हलका शरीर सात्विक है और रक्तपूर्ण, उत्साही व बलवान शरीर राजसी है। अपवित्र आलसी शरीर तामसी है। पर एक ही मन व एक ही शरीर में यह तीनों दशा भिन्न भिन्न समयों पर उपस्थित हो सकती हैं। उपासना व भक्ति में मन सात्विक है। सासारिक प्रबध में लगा हुआ मन राजसी है और क्रोध, काम, मत्सर, ईर्षा आदि मे तत्पर मन तामसी है। शुद्ध स्नान किया हुआ इच्छाओं की उत्तेजना से रहित शरीर सात्विक है; सुगधित, सुसज्जित व सांसारिक कार्य्यों में तत्पर शरीर राजसी है, निद्रा, आलस्य व अपवित्रता की दशा में शरीर तामसी है।

जड पदार्थो का भी इस सिद्धात के अनुसार विचार हो सकता है। इस प्रकार रगों के भी भेद हो सकते हैं। श्वेत रग सात्विक है, लाल रग राजस है और काला रग तामस है। ताजे-फल और दूध से बनी हुई मीठी वस्तुएँ सात्विक भोजन है, मिठाई और मसालेदार पदार्थ राजसी हैं और बासे, तीक्ष्ण व नशीले पदार्थ तामसी हैं। सात्विक वस्तु आनन्द दायक होती हैं, राजस में सुख दुख मिले होते हैं और तामसी घृणा उत्पन्न करने वाली

होती हैं। वायु सात्विक हैं। रस रूप युक्त वस्तु राजसी हैं और स्थूल पृथवीतत्व युक्त वस्तु तामसी है। और फिर विविध वायु, रस और स्थूल वस्तुओं में भी इसी प्रकार तुलना हो सकती है।

ऊपर दिये हुए कुछ उदाहरण है। यह विभाग आदि तत्व की मूल दशाओं के आधार पर ही निर्भर है। जो निश्चलता के समान है वह सात्विक है। जिस में क्रिया से कुछ न कुछ समानता है वह राजस है और वह जिन का स्वभाव अविवेकी क्रिया अथवा आलस है और अकर्मण्यता के समान है वह तामसी है।

यह विचार केवल बुद्धि विलास के लिये ही नहीं वरन् व्यवहार सम्बन्ध से भी महत्व पूर्ण है। हम देख चुके हैं कि राजसी क्रिया का स्वाभाविक परिणाम तामसी दशा है। रज में अपनी क्रिया को दोहराने का प्राकृतिक स्वभाव है। अत. राजसी क्रिया स्वभावत बढती रहेगी। एक क्रिया दूसरी क्रिया उत्पन्न करेगी और यह क्रम उस समय तक चलता रहेगा जब तक कि वह क्रियाएँ तामस मे परिणत न हो जावें। अतएव जो मनुष्य शुद्ध व सात्विक होना चाहते हैं उन को अपने कर्मों के सम्बन्ध में सदैव सचेत रहना चाहिये। मनुष्य समाज के सदस्य होने से हम क्रिया रहित तो नही हो सकते परन्तु हम को यह ध्यान रखना चाहिये कि हमारे प्रयोजन व क्रियाविधि दोनों सात्विक हों। हमारे कार्य्य उदार सत्याग्रही व धार्मिक होने चाहियें। मनुष्यों और वस्तुओं के चुनाव में भी हम को सात्विक होना चाहिये। सात्विक पुरुषों की सगत से सात्विक गुणों की वृद्धि होती है और राजसी व तामसी पुरुषों की सगति से रज और तम गुणों की वृद्धि होती है। सात्विक भोजन से हमारा मन निश्चल व शात रहेगा। राजसी भोजन से हमारा स्वभाव रागात्मक होगा और

तामसी भोजन से हम आलसी कर्तव्यहीन व चिड़ चिड़े स्वभाव के होंगे। इस का कारण शारीरिक मन पर भोजन का प्रभाव है।

इस सिद्धान्त का एक और परम प्रयोजनीय परिणाम है। जिस वस्तु की किसी विशेष ओर गति हो तो उसकी गति में उसी ओर को वेग बढ़ता जायगा जब तक कि वह किसी ऐसी अवस्था को प्राप्त न हो जिसमें प्रतिकार का होना सम्भव हो। जैसे ऊपर से गिरती हुई गेंद पृथवी से टक्कर खाकर फिर ऊपर को उछलती है। यदि हम चाहें कि वह पृथवी पर न गिरने पावे और उससे पूर्व उस की गति में परिवर्तन हो जाय तो हम को कष्ट करना पड़ेगा। यदि हम एक तख्ता लेकर उस को गेंद की गति के मध्य में लगादें तो गेंद तख्ते से टक्कर खाकर ही उछल जायगी और पृथवी तक न गिरने पावेगी। इसी प्रकार हमारे जीवात्मा की स्वाभाविक गति भी अपनी क्रिया के वेग को तामसिक दशा तक बढ़ाती है। यदि हम प्रतिकार की अवस्था से पूर्व ही उर्ध्व गति से उन्नति करना चाहते हैं तो इस अधोगति का प्रतिकार करने को हमें सात्विक प्रभावों के तख्ते के लगाने की आवश्यकता है। वह भक्त लोग जो किसी विशेष अवतार के उपासक होते हैं साधारणतया कहते हैं कि सब बातें भगवान की इच्छानुसार होती हैं। उन से कभी कभी प्रश्न होता है कि क्या चोरी और हत्या भी उसकी इच्छा के अनुसार हैं। ऊपर के विचारों से उत्तर प्रत्यक्ष हो जायगा। चोरी व हत्या करने का स्वभाव जीवात्मा के पूर्व के राजसिक स्वभाव का प्राकृतिक तामसिक परिणाम है और सत्कर्म उन वृत्तियों के परिणाम हैं कि जो स्वाभाविक रज और तम के विरुद्ध सात्विक प्रभावों के मध्यस्थ कर देने से उत्पन्न होती हैं। अतएव विशेष अवतार के समान सात्विक जीवात्मा का प्रभाव सत्कर्मों की वृद्धि करने

वाला ही हो सकता है।

आर्य्य धर्म ग्रथों में यह कहा गया है कि सत्व, रज, व तम प्रकृति के तीन गुण हैं और परब्रह्म शुद्ध सत्व रूप है। यह भी कहा जाता है कि प्रकृति से ही नाम रूप की उत्पत्ति होती है नही तो परब्रह्म में न नाम है न रूप। यदि हम सृष्टि की रचना विधि को स्मरण रखें तो इनका अर्थ स्पष्ट हो जाता है। बीज रूप चेतनता की विस्तृत दशा में न तो कोई रूप की परिमितता है और न कोई कम्पन अथवा कोई और क्रिया है जिससे शब्द प्रकट हो। परन्तु जब वह चेतनता एकत्र होने लगती हे तो तत्काल स्वरूप प्रकट हो जाता है और उस पिण्ड में जो कम्पन होता है उसी से शब्द भी प्रकट हो जाता है। "शब्द ईश्वर के साथ था, शब्द ही ईश्वर था" इस कथन का सकेत भी इसी ओर है। शब्द को ईश्वर इस कारण कहा है कि शब्द के सहचर कम्पन व हरकत से ही सृष्टि का उदय होता है। अष्टाक्षर आध्यात्मिक शब्दो अथवा नामों के आध्यात्मिक प्रभाव का कारण भी उनका इन्हीं आदि शब्दों से सम्बन्ध है।

इससे पूर्व आदि तत्व शुद्ध सात्विक रूप में था। परन्तु अब उसमें प्रकृति का उदय हो गया है अथवा निरन्तर परिवर्त्तन का सिद्धात कार्य्य करने लगा है। यह प्रकृति उस समय तक सात्विक दशा में है जब तक कमल के खिलने से उस पिण्ड में घोर क्षोभ नही होता। और जब यह होता है तब तो कंपन आदि की आंधी सी चल जाती है और सृष्टि का रचना क्रम पूर्ण रूप से होने लगता है और उस समय प्रकृति राजसिक दशा में होती है। जब एकाग्र चेतनता के शात होने से सृष्टि निर्जीव अथवा शक्ति हीन होने लगती है तब उसकी तामसिक दशा प्राप्त होती है। ऐसी प्रकृति का परिणाम जो कुछ वस्तु होगी उसी में यह

तामसी भोजन से हम आलसी कर्तव्यहीन व चिड़ चिडे स्वभाव के होंगे। इस का कारण शारीरिक मन पर भोजन का प्रभाव है।

इस सिद्धान्त का एक और परम प्रयोजनीय परिणाम है। जिस वस्तु की किसी विशेष ओर गति हो तो उसकी गति में उसी ओर के वेग बढता जायगा जब तक कि वह किसी ऐसी अवस्था को प्राप्त न हो जिसमें प्रतिकार का होना सम्भव हो। जैसे ऊपर से गिरती हुई गेंद पृथवी से टक्कर खाकर फिर ऊपर को उछलती है। यदि हम चाहें कि वह पृथवी पर न गिरने पावे और उससे पूर्व उस की गति में परिवर्तन हो जाय तो हम को कष्ट करना पडेगा। यदि हम एक तख्ता लेकर उस को गेंद की गति के मध्य में लगादे तो गेंद तख्ते से टक्कर खाकर ही उछल जायगी और पृथवी तक न गिरने पावेगी। इसी प्रकार हमारे जीवात्मा की स्वाभाविक गति भी अपनी क्रिया के वेग को तामसिक दशा तक बढाती है। यदि हम प्रतिकार की अवस्था से पूर्व ही उर्ध्व गति से उन्नति करना चाहते हैं तो इस अधोगति का प्रतिकार करने को हमें सात्विक प्रभावों के तख्ते के लगाने की आवश्यकता है। वह भक्त लोग जो किसी विशेष अवतार के उपासक होते हैं साधारणतया कहते हैं कि सब बाते भगवान की इच्छानुसार होती हैं। उन से कभी कभी प्रश्न होता है कि क्या चोरी और हत्या भी उसकी इच्छा के अनुसार हैं। ऊपर के विचारों से उत्तर प्रत्यक्ष हो जायगा। चोरी व हत्या करने का स्वभाव जीवात्मा के पूर्व के राजसिक स्वभाव का प्राकृतिक तामसिक परिणाम है और सत्कर्म उन वृत्तियों के परिणाम हैं कि जो स्वाभाविक रज और तम के विरुद्ध सात्विक प्रभावों के मध्यस्थ कर देने से उत्पन्न होती हैं। अतएव विशेष अवतार के समान सात्विक जीवात्मा का प्रभाव सत्कर्मों की वृद्धि करने

वाला ही हो सकता है।

आर्य्य धर्म ग्रथों में यह कहा गया है कि सत्व, रज, व तम प्रकृति के तीन गुण हैं और परब्रह्म शुद्ध सत्व रूप है। यह भी कहा जाता है कि प्रकृति से ही नाम रूप की उत्पत्ति होती है नहीं तो परब्रह्म में न नाम है न रूप। यदि हम सृष्टि की रचना विधि को स्मरण रखें तो इनका अर्थ स्पष्ट हो जाता है। बीज रूप चेतनता की विस्तृत दशा में न तो कोई रूप की परिमितता है और न कोई कम्पन अथवा कोई और क्रिया है जिससे शब्द प्रकट हो। परन्तु जब वह चेतनता एकत्र होने लगती है तो तत्काल स्वरूप प्रकट हो जाता है और उस पिण्ड में जो कम्पन होता है उसी से शब्द भी प्रकट हो जाता है। "शब्द ईश्वर के साथ था, शब्द ही ईश्वर था" इस कथन का सकेत भी इसी ओर है। शब्द को ईश्वर इस कारण कहा है कि शब्द के सहचर कम्पन व हरकत से ही सृष्टि का उदय होता है। अष्टाक्षर आध्यात्मिक शब्दों अथवा नामों के आध्यात्मिक प्रभाव का कारण भी उनका इन्हीं आदि शब्दों से सम्बन्ध है।

इससे पूर्व आदि तत्व शुद्ध सात्विक रूप में था। परन्तु अब उसमें प्रकृति का उदय हो गया है अथवा निरन्तर परिवर्त्तन का सिद्धात कार्य्य करने लगा है। यह प्रकृति उस समय तक सात्विक दशा में है जब तक कमल के खिलने से उस पिण्ड में घोर क्षोभ नहीं होता। और जब यह होता है तब तो कपन आदि की आधी सी चल जाती है और सृष्टि का रचना क्रम पूर्ण रूप से होने लगता है और उस समय प्रकृति राजसिक दशा में होती है। जब एकाग्र चेतनता के शात होने से सृष्टि निर्जीव अथवा शक्ति हीन होने लगती है तब उसकी तामसिक दशा प्राप्त होती है। ऐसी प्रकृति का परिणाम जो कुछ वस्तु होगी उसी में यह

तीनों स्वभाव उपस्थित होंगे। यह स्मरण रखना चाहिये कि प्राकृतिक सत्व पूर्णतया निश्चल दशा नही है वरन् केवल तुलना विचार से ही सात्विक है। और यही स्वभावतः होना चाहिये क्योंकि प्रकृति का सार ही परिवर्तन क्रिया है। प्रकृति सम्बन्धी कोई वस्तु भी पूर्णतया निश्चल नही हो सक्ती। अतएव भक्त को उचित है कि इन तीनों गुणो से परे शुद्ध सत्व में स्थित हो। इस विचार से साधन करते हुए शनैः शनै· वह अपने आत्म स्वरूप तक पहुच जायगा।

ॐ राम

१०–जीवनोद्देश्य

यह युग युगान्तरों का प्रश्न है। वडे वडे दार्शनिको के विवाद के पश्चात् भी ससार वही है जहां पहले था। कोई कहते हैं कि सुख की प्राप्ति ही जीवन का उद्देश्य है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वह सुख तत्काल प्राप्त होने वाला इन्द्रिय सुख हो। वह सुख सामाजिक प्रशसा अथवा अपने ही मन के धार्मिक विचारों का सतोष, अथवा स्वर्ग के सुखों की प्राप्ति की आशा, अथवा भगवान के प्रेम में स्थान पाने की अभिलाषा के रूप में हो सकता है। अथवा वह सुख किसी भविष्य जीवन में प्राप्त होने वाला हो सकता है। परन्तु दूसरे तर्क करते हैं कि ऐसी दशा भी हो सकती हैं जिस में सुख का सकेत उस कार्य्य से पूर्णतया भिन्न होता है जो कि मनुष्य करता है। जब कोई मकान जल रहा हो और कोई पुरुष अपने जीवन को भय में डाल कर किसी बालक को बचाने भीतर दौडता है तो सामाजिक प्रशसा, स्वर्ग अथवा दूसरे जन्म का सुख इतने बलवान् नही होते कि उस को

तीक्ष्ण शारीरिक कष्ट और मृत्यु भी सहन करने को प्रस्तुत कर दे। और भी जो द्रष्टा हैं उन को तो ऐसी प्रेरणा नहीं होती, यद्यपि वह भी सामाजिक प्रशंसा अथवा स्वर्ग का सुख अवश्य चाहते हैं। उस समय धर्म का दृढ विचार ही प्रेरक होता है। यह सत्य है कि जब वह बालक को बचाने में सफल हो जाता है तो उसको अपनी सफलता पर अत्यन्त हर्ष होता है। सामाजिक प्रशंसा इस हर्ष को बढ़ा भी सकती है। उसको अपने धर्म के पालन करने से संतोष भी होगा। परन्तु जब उसने वह कार्य्य हाथमें लिया था उस समय इन में से कोई भी उस के मन में न था। यह माननीय है कि सम्भवत उस दृढ धर्म विचार को उस के करुणा भाव से, जो कि सम्भव है कि उसके मानसिक संगठन में विशेष बलवान हो और जो बालक की निःसहाय दशा के ध्यान से उत्तेजित हो गया हो, अधिक सहायता मिली हो। परन्तु उस भाव के उत्तेजित होने का अर्थ यह कदापि नहीं हो सकता कि उस समय उसके मन में किसी प्राप्त होने वाले सुख का विचार उदय हुआ था। यह सत्य ही है कि मनुष्य असंख्य कर्म प्रतिदिन ऐसे करता रहता है जिन में सुख प्राप्ति का उसे विचार भी नहीं होता।

अतएव कुछ मनुष्य कहते हैं कि धर्म का उद्देश्य मनुष्य की शक्तियों की वृद्धि है। हम देख चुके हैं कि जीवात्मा की स्वाभाविक गति तम की ओर है इस कारण उन स्वाभाविक शक्तियों के अनुसार कार्य्य करना प्राकृतिक हो सकता है परन्तु धार्मिक कदापि नहीं कहा जा सकता। यदि कोई मनुष्य स्वार्थ के लिये आध्यात्मिक शक्तियां भी प्राप्त कर ले तो धर्म विचार से वह शक्तियां भी उसे पतित करने वाली ही होंगी। क्योंकि सांसारिक प्रलोभन के संतुष्ट करने के साधनों में वृद्धि हो जाने से उनकी

शक्ति बढ जाती है। इस प्रकार यह सम्भव है कि अत्यन्त प्रभावशाली होने पर भी वह पुरुष धार्मिक न हो। हमारे प्रतिदिन के जीवन में यह अनुभव होता है कि शक्ति और धर्म का ससर्ग आवश्यक नहीं है।

वह क्रिया शक्ति जिन का परिणाम सुख और सतोष हों स्थिर हो जाती हैं। और जो दुखन्त होती हैं वह नष्ट हो जाती हैं। यदि धर्म से शक्तियों की वृद्धि होती हो तो धर्मपालन स्वभाव से ही सुखमय होना चाहिये। प्रत्येक धार्मिक कार्य्य उस सुख की इच्छा से भले ही न किया जाय परन्तु उसका परिणाम अवश्यमेव सुख होना चाहिये।

यह सत्य है कि आचरण का निश्चय साधारणतया तर्क द्वारा नही किया जाता। जो नियम हमारी परिस्थित समाज में प्रचलित होता है उसी को हम स्वीकार कर लेते हैं। अब निश्चय करने का कार्य्य व्यक्ति के बदले समाज करती है। समाज द्वारा इस निश्चय के होने में महान् जीवात्माओं के आचरण व व्यवहार का बड़ा प्रभाव पडता है। उन के कार्य्य व विचार करने की शैली अनुकरण मात्र से सर्व साधारण में फैल जाती हैं। बहुत कुछ इन समाज के नेताओं के निश्चय पर निर्भर है। और उन का निश्चय तर्क द्वारा विवेक युक्त होगा।

इस में सन्देह नही कि इस प्रकार निश्चित किया हुआ प्रत्येक सिद्धांत परमानन्द की प्राप्ति चाहता है। परन्तु इस परमानन्द के अर्थ भिन्न भिन्न होते हैं। कोई तो अधिक से अधिक शारीरिक सुख को चाहते हैं। दूसरे सारे समाज के सम्पूर्ण सुख की अधिक से अधिक मात्रा को देने वाले सिद्धात को श्रेष्ठ समझते हैं। तीसरे समाज के सगठन की दृढ़ता ही को व्यक्ति सुख के लिये मानते हैं। परन्तु आनन्द सम्बधी सब

भी सम्भव है। परन्तु अभावात्मक सुख सब प्रकार के कष्टों से, चाहे वह स्पष्ट हों चाहे अभावात्मक, रहित है। वह पूर्णतया शांति व निश्चलता है।

गाढी निद्रा केवल दुख का अभाव ही नही वरन् स्पष्ट हर्ष-दायक भी है। जो जीवन कि निश्चल, शांत, अथवा उदासीन भी है उस के लिये स्पष्ट सुख से रहित होना आवश्यक नही है वरन् उस में एक प्रकार की आनन्द मय शांति भरी रहती है। परन्तु यह आनन्द चाहे वह गाढी निद्रा का हो अथवा शांत जीवन का हो उसी समय समझ में आ सकता है कि जब हमारी भिन्नात्मक चेतनता कार्य्य करती हो। गाढ़ी निद्रा में मुझे स्पष्ट सुख व अभावात्मक सुख में भेद प्रतीत नहीं होता। परन्तु जब मैं जागता हू तब मुझे निद्रा के सुख की स्पष्टता ज्ञात होती है। इसी प्रकार जब पूर्ण समाधि होती है तब यह भेद ज्ञात नहीं होता परन्तु समाधि से जागने पर उस सुख की ऐसी स्मृति होती है कि वह आनन्द वर्णन नही हो सकता। अतएव यह सत्य है कि आदि तत्व की दशा में स्पष्ट सुख के ज्ञान की कोई सम्भावना नही है क्योंकि सुख और दुख तो जीवात्मा में प्रकट हुई भिन्नात्मक चेतनता की क्रिया के फल हैं। परन्तु इस का अर्थ यह नही है कि ऐसी दशा श्रेष्ठ नही है। यदि किसी अत्यन्त प्रवृत करोड पति से पूछा जाय कि उस का पूर्णतया गाढी व हर्षदायक निद्रा अच्छी लगती है अथवा उस को अपने साधारण जीवन के सुखों और प्रसन्नताओं सहित भिन्नात्मक चेतनता अधिक प्रिय है तो उसका उत्तर क्या होगा इस में कुछ भी सन्देह नही किया जा सकता। यह सत्य है कि उस की प्रवृति बडी कठिन है परन्तु साथ ही उस का सुख भी अतुल है। वह चाहे तो और अधिक सम्पत्ति प्राप्त करने के लिये दौड़ धूप छोड दे परन्तु उसकी राजसिक क्रिया उसे खींच

के जाती हैं। और जिनकी आवश्यकता केवल जीवन के बनाये रखने के लिये हैं उन को भी उनके प्राप्त करने के लिये कष्ट करना पड़ता है । कदाचित् वह भी अपने साधारण जीवन के दुखों और चिन्ताओं की अपेक्षा गाढ़ी निद्रा को ही चाहेंगे।

इस से अतिरिक्त दूसरा उपाय ही क्या है ? यह तो हम देख ही चुके हैं कि एक न एक दिन हमारी यह दशा होनी ही है। हम केवल इतना ही कर सकते हैं कि चाहें तो पहले पृथवी पर गिर लें और चाहें तो सुख दुख से युक्त एक अत्यन्त लम्बे मार्ग के बीच में ही तगता लगा दे । इधर उधर धक्के खाने का क्या फल ? हम अपने अभीष्ट स्थान पर शीघ्र से शीघ्र पहुंच कर क्यों न मुक्ति में शांति को प्राप्त करे ?

परन्तु समाज का क्या प्रबंध है ? इस से तो भय है कि मनुष्यों में अकर्मण्यता व आलस्य फैल जायगा। इस समाज का सगठन बिगड़ जायगा और फिर व्यक्तियों का अभीष्ट भी सिद्ध न हो सकेगा। क्यों कि किसी भी प्रकार का जीवन बिना स्थिर समाज के सुख से व्यतीत नहीं हो सकता। परन्तु इस विचार से जीवनोद्देश्य की प्राप्ति के लिये समाज सगठन का महत्त्व हम पर प्रत्यक्ष हो सकता है परन्तु जीवनोद्देश्य नही बदल सकता। उद्देश्य तो आदि तत्व का प्राप्त करना रहा और उस प्राप्ति के साधनों के निश्चय करने में हम न समाज को भूल सकते हैं और न व्यक्ति को। इस के अतिरिक्त धार्मिक जीवन से उस व्यक्ति का ही कल्याण नही होता बरन् वह समाज को भी नियम बद्ध व शांत रखता है। इस बात के अनुभव से कुछ लोगो ने धर्म का आधार ही समाज की आवश्यकताओं को बना दिया। परन्तु यदि सामाजिक आवश्यकता ही आधार मान ली जाय तो यह आवश्यकता समय पाकर बदल सकती हैं और उन के साथ

धर्म के सिद्धांत भी बदल जायगे। बहुत से मनुष्य समाज के लिये असत्य भाषण में दोष नही समझते परन्तु उस सामाजिक लाभ से उस असत्य का आध्यात्मिक प्रभाव बदल नही सकता। समाज के लिये सब बातों का त्याग कभी कभी अत्यन्त कष्टदायी भी हो सकता है। कोई कोई साम्य वादी ऐसी समाज सगठित करना चाहते हैं जिस में व्यक्तियों की बनाई वस्तु एक सामाजिक भण्डार में दी जांय और उन के बदले मेहनत के अनुसार टिकट सामान खरीदने को दिये जांय। कोई कोई स्त्रियों को सब पुरुषों के लिये स्वतन्त्र कर विवाह पद्धति को ही नष्ट करना चाहते है। सामाजिक आवश्यकता ऐसा आधार नही हो सकती कि जिन पर धर्म का स्थिर स्थान स्थापित हो सके। परन्तु जब धर्म का आधार आध्यात्मिक आवश्यकता होगी तो व्यक्ति का भी कल्याण होगा और समाज भी स्थिर रहेगा।

ऐसे धर्म सिद्धातों में जिनका उद्देश्य आदि तत्व को प्राप्त करना है एक और विशेषता है। हम देख चुके हैं कि योगी आध्यात्मिक शक्तियो को प्राप्त करके अपनी चेतनता की शक्ति का अधिक से अधिक प्रयोग कर सकता है। वह धार्मिक सिद्धात जो योग अथवा आध्यात्मिक क्रियाओं के लिये हमारी दशा को यथोचित करें अवश्यमेव जीवात्मा को बलवान् बनावेंगे। वही गुण जो जीवात्मा के स्वरूप को सरल व एक रस करेंगे उस दशा को उपस्थित करने में सहायक होंगे कि जिस का प्रकट करना योग का भी उद्देश्य है। इस प्रकार जिस मार्ग के यह गुण प्रथम पद होंगे उसी मार्ग का योग आगे का स्थान होगा।

परन्तु कुछ लोग इस अस्पष्ट सुख से संतुष्ट नही होते। वह पवित्र प्रेम में मगन रहने का जीवनोद्देश्य उपस्थित करते हैं। जिस प्रेम में वह निरतर मगन रह सकते हैं वह उन को सांसा-

रिक दुखों से ही अनभिज्ञ न रक्खेगा वरन् उन को स्पष्ट सुख भी देगा। ऐसे प्रेम का उचित ध्येय कोई सांसारिक वस्तु नहीं हो सकती वरन् भगवान का ही कोई स्वरूप हो सकता है। सांसारिक प्रेम में घटना बढ़ना हो सकता है। वह मत्सर, झगडे, अप्रसन्नता, और अनेक प्रकार की कठिनताओं से क्षुब्ध हो सकता है। परन्तु दैविक प्रेम में ऐसी कोई विघ्न, बाधा नही है। वह निरन्तर शुद्धि करता हुआ बढ़ता रहता है यहा तक कि समय पाकर भक्त अपने इष्ट देव के स्वरूप के दर्शन के असीम अद्भुत आनन्द में सज्ञाहीन हो जाता है।

परिणाम में अधिक अन्तर नहीं है। जब तक शरीर में रहते हैं तब तक योगी व भक्त दोनों समाधि के असीम आनन्द का अनुभव व ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। साधन में दोनों को अद्भुत आध्यात्मिक अनुभव होते हैं। दोनों को एक ही प्रकार के धर्माचरण का आश्रय लेना पडता है। ऐसे धर्म का आध्यात्मिक आधार होने से उस की आवश्यकता आध्यात्मिक योगी व आध्यात्मिक भक्त दोनों को ही होती है। यथार्थ में इन दोनों में वैमनस्य नही है। प्रेम योगी को उस के अभ्यास में मन को शुद्ध रख कर सहायता देता है। और जब वह आत्मदर्शन प्राप्त कर लेता है उस समय भी दैविक प्रेम सांसारिक प्रलोभनों से उसकी रक्षा करता है। उस ज्ञान के रहते हुये भी सांसारिक प्रलोभन उसके भावों पर प्रभाव डाल कर उसे अपनी ओर खींच लेते हैं। परन्तु जब एक भाव अत्यन्त भरा हुआ हो तो और भावों का आघात निष्फल होता है। योगी समाधि में तो सुरक्षित रहता ही है परन्तु जाग्रत अवस्था में भी दैविक प्रेम द्वारा वह अपनी रक्षा करता है। दूसरी ओर मन के शुद्ध होने से भक्त भी शनै २ योगाभ्यास को प्राप्त करता है। ऐसे आध्यात्मिक ज्ञान

के प्राप्त होने से उसके प्रेम का लक्ष्य भी ठीक हो जाता है और उसी लक्ष्य के अनुसार मन की एकाग्रता होने से उसका अभीष्ट "भगवान का दर्शन" शीघ्र सिद्ध होता है। ऐसे दर्शन के पश्चात उसे कोई इच्छा नहीं रहती और वह निर्विकल्प समाधि प्राप्त करता है। इन दोनों का परिणाम ही एक नहीं है वरन् साधन भी दोनों का संग होना उचित है।

कुछ मनुष्यों का विचार है कि निष्काम कर्म करने से मुक्ति प्राप्त होती है। हम देख चुके हैं कि मुक्ति का अर्थ क्या है। वह अवस्था तो निर्विकल्प समाधि के पश्चात् ही सम्भव है। निष्काम कर्म से मन शुद्ध हो जाने से उन्नति सुगम हो जाती है और इस विचार से यह कहा जा सकता है कि उससे मुक्ति हो जाती है। निष्काम कर्म में मनुष्य परिणाम की चिन्ता न करते हुए धर्म पालन करता है। ऐसे कर्म में चिन्ता से उत्पन्न बन्धन तो नहीं रहता परन्तु विचार व क्रिया का तो रहता ही है। यह कर्म सात्विक है परन्तु फिर भी कर्म होने से रज स्वरूप ही है। आध्यात्मिक योगी व आध्यात्मिक भक्त दोनों भी पूर्णतया कर्म रहित नहीं हो सकते। और उनका कर्म भी निष्काम होगा। परन्तु वह इस से भी अधिक करते हैं। वह अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिये विशेष साधन भी करते हैं। उन दोनों के लिये भी निष्काम कर्म साधन रूप है। प्रेम से निष्काम कर्म सुगम हो जाता है और निष्काम कर्म से प्रेम मय स्वभाव हो जाता है। इस स्थान पर ही आध्यात्मिक गुणों के अभ्यास का महत्व भविष्य के साधनों के लिये सब से अधिक प्रतीत होता है। योगी और भक्त दोनों के लिये निष्काम कर्म परमावश्यक है। जब वह अपने अभीष्ट को प्राप्त कर लेते हैं तब उनका कर्तव्य अपने उपदेश व आचरण से संसार का उपकार करना रह जाता है। आध्यात्मिक ज्ञान, प्रेम व

निष्काम कर्म सब किसी न किसी रूप में साथ ही रहते हैं।

ॐ राम

११–आध्यात्मिक अनुज्ञा व दंड--दैविक गुण

इस प्रकार हमें आदि तत्व के स्वभावों में अपने धर्म के सिद्धांत का आधार प्राप्त हो जाता है। ससार के जड व चेतन सम्पूर्ण पदार्थों का आधार वह निश्चल आदि तत्व सब से सूक्ष्म, हलका, बारीक, कोमल, बीज रूप चेतनता सहित अद्वैत सत्ता है। वह गुण जिनके अभ्यास से जीवात्मा में भी यही दशा उपस्थित हो सकती हों हमारी जीवात्मा के स्वरूप को सरल करने व हमारे अभीष्ट, आत्मदर्शन व मुक्ति, की प्राप्ति में सहायक होंगे। और वह कर्म जिन से हमारी विरुद्ध गति हो दोष होंगे। ऐसे धर्म सिद्धात में आध्यात्मिक परिणाम का स्वाभाविक दंड होगा। अब न तो भयंकर नरक से डराने की आवश्यकता है और न स्वर्ग सुख के प्रलोभन की। परब्रह्म, आदि तत्व अथवा नित्य ईश्वर सर्व व्यापक है और वह प्रत्येक कर्म को लिख लेगा। इस में कोई भूल नहीं हो सकती क्योंकि यह अङ्कित होना प्राकृतिक हैं। हम कोई बात छिपा नही सकते। और छिपावें भी किस से? अपने आप से ही?

इस विचार से गुण दैविक व सहायक हो सकते हैं। वह गुण जो जीवात्मा के स्वरूप को सरल व सूक्ष्म अपने ही स्वाभाविक प्रभाव से करते हैं दैविक हैं। और वह गुण जो इन दैविक गुणों के अभ्यास में सहायक होते हैं सहायक गुण हैं। सहायक गुण व्यक्ति गत और सामाजिक हो सकते हैं। पहले तो व्यक्ति को ही स्वय सहायता देते हैं और दूसरे समाज संगठन की स्थिरता

की रक्षा द्वारा सहायक होते हैं। समाज सङ्गठन भी ऐसा होना चाहिये कि अभीष्ट सिद्धि में वह बाधक न हो वरन् सहायक हो। दैविक गुण नित्य हैं क्यों कि उनका आधार आदि तत्व का नित्य स्वभाव है। सहायक गुण भी सिद्धान्तों के अनुसार होने चाहियें जिससे उनका प्रयोजन सिद्ध हो सके परन्तु छोटी छोटी बातों में व्यक्तियों व समाज की आवश्यकता के अनुसार उनमें भेद हो सकता है परन्तु यह भेद मुख्य सिद्धात के विरुद्ध नहीं होना चाहिये।

इस प्रकार सत्य दैविक गुण है। आदि तत्व की अद्वैत व एक रस सत्ता है। सत्य वह है जिसमें द्वैत न हो। जब हम असत्य बोलते हैं तो उसी समय हमारा मन एक वस्तु के दो स्वरूपों पर लग जाता है। ऐसे असत्य से मानसिक क्रिया अनेक प्रकार से बढ जाती है। एक प्रकार तो ध्यान का दो बातो पर लगना ही है। उस असत्य की रक्षा अथवा उस को प्रकट न होने देने की चिन्ता, हमारा जान बूझ कर भोली भाली सच्ची सी चेष्टा बनाये रखने का प्रयत्न, दूसरे प्रकार हैं। एक असत्य और सहस्रों असत्यों का कारण होता है। शनै शनै. इसका स्वभाव पड जायगा और हमारी जीवात्मा का स्वरूप स्थूल होता चला जायगा और हमारे स्वभाव भी स्थूल हो जायगे। जहां सत्य से हमारा मन शात व एक रस रहेगा वहां असत्य बोलने के अभ्यास से हमारा जीवन आंधी के समान क्षुब्ध हो जायगा। निष्कपटता व उदारता सत्य ही के परिणाम हैं। द्वैत भाव, कपट, व छिपाव सब असत्य के स्वभाव हैं। सत्य केवल वाणी से ही सम्बन्ध नहीं रखता वरन् यह विचार व क्रिया में भी हो सकता है। मैं दूसरे मनुष्यों के सम्बन्ध में अनुचित विचार कर सकता हू जिन को मैं प्रकट होना न चाहूगा। मैं उनके सम्बन्ध में सत्य विचार रख

सकता हूं जिनके छिपाने की मुझे चिन्ता न होगी। यह तो संभव है कि किसी अच्छे काम को अपने द्वारा होने की वार्ता में प्रकट न होने देना चाहूं परन्तु यदि वह किसी प्रकार से प्रकट हो जाय तो मुझे उससे कुछ चिन्ता न होगी। परन्तु दूसरी दशा में इसके विरुद्ध प्रभाव होगा। कर्म के विचार से भी चोरी, काम विषय सम्बन्धी पाप, बेईमानी असत्य मय मानसिक स्वभाव के परिणाम हैं। विश्वास पालन, ईमानदारी, सत्य, दृढता, छलहीनता, कुटिलता न होना, इन सब का आधार सत्य है। मन वचन कर्म से सच्चे मनुष्य का मन शुद्ध व जीवात्मा पवित्र होगा। असत्य वादी के प्रलोभनों और पापों में प्रवृत्त होने की अधिक सम्भावना है। उसकी आत्मा स्थूल होकर शारीरिक मन के अधिक समान हो जाने से शारीरिक इच्छा व प्रलोभनों से अधिक प्रभावित होगा। सत्य मय जीवन से जीवात्मा के अधिक सूक्ष्म, सरल, चैतन्य हो जाने से, चेतनता के प्रभाव के बढने से व मन की सूक्ष्म गति हो जाने से बुद्धि भी सूक्ष्म व निर्मल हो जायगी। और असत्य मय जीवन से उसकी विचार शक्ति निर्बल हो कर वह मनुष्यों में पशु के समान हो जायगा।

कभी कभी यह कहा जाता है कि कुछ विशेष अवस्थाओं में सत्य पाप और असत्य पुण्य हो जाता है। यदि अशर्फी लाल, केदारी को मारने के लिये पीछे दौडता हो और चौराहे से केदारी एक ओर को चला जाय और तोता उस को देख ले और अशर्फी तोता से पूछे कि केदारी किधर गया है तो यदि तोता सत्य बोलता है तो वह एक मनुष्य के प्राण हरण का कारण होता है। तोता केदारी के जीवन को असत्य बोल कर और एक दूसरी ही सड़क की ओर सकेत करने से बचा सकता है। ऐसी दशा में सत्य तो पाप है और झूठ पुण्य है। सत्य हो चाहे असत्य हो

ऐसी दशा में भी।उसका आध्यात्मिक प्रभाव तो होगा ही। यह सात्विक असत्य है और फिर उसका प्रभाव एक दूसरे नित्य दैविक गुण दया के प्रभाव से कम भी हो जायगा, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि यह झूठ ही नहीं है। असत्य के स्वरूप से इसका प्रभाव होगा ही परन्तु वह एक विरोधी प्रभाव के कारण कुछ दुर्बल हो जायगा। परन्तु इससे हमको यह अधिकार नहीं हो जाता कि हम यह कह दें कि उसका स्वभाव ही बदल गया और असत्य ही सत्य के समान हो गया। वास्तव मे इस झूठ के लिये भी व्रत उपासना द्वारा प्रायश्चित आवश्यक है जिसके शुद्धात्मक प्रभाव से दया का प्रभाव असत्य के प्रभाव को नष्ट करदे। इसके अतिरिक्त इस दृष्टान्त में असत्य बोलने का कारण कुछ अंश तक स्वार्थ भी हो सकता है। यदि तोता उत्तर ही न दे अथवा केदारी की जाने की दिशा को बताने से मना कर दे तो सम्भव है कि अशर्फी तोता पर ही टूट पड़े। और तोता मृत्यु के लिये प्रस्तुत नहीं है। अथवा यह हो सकता है कि तोता पहले तो न बतावे परन्तु जब उसको धमकाया जाय तो डरकर केदारी व अपने को बचाने के लिये दूसरी ही दिशा की ओर सकेत कर दे। हम इसके लिये तोता को दोषी भले ही न ठहरावे परन्तु इससे प्रायश्चित की आवश्यकता तो प्रत्यक्ष हो जाती है।

एक दूसरी कठिन समस्या समाज के हित के लिये अथवा देश की रक्षा के लिये असत्य भाषण है। यह असत्य स्वार्थ के कारण होने से—क्योंकि अपने देश से प्रेम हम इस लिये करते हैं कि वह हमारा है इस लिये नहीं कि हम दया से प्रेरित होते हैं—राजसिक है। इसमें पुण्य रूप विरोधी गुण सामाजिक सहायक गुण देश प्रेम है। ऐसे असत्य का प्रभाव ऊपर के उदाहरण से अधिक होगा। ऐसे असत्यों को उचित स्थिर करने के सिद्धांत

का परिणाम हम कपट युक्त राजनीति, राजनैतिक व युद्ध सम्बन्धी असत्य समाचारों के विस्तार व सत्य समाचारों की काट छांट आदि में देखते हैं। जितना इस प्रकार के कर्म जनता को असत्य से परिचित करते हैं उतना ही निश्चय पतन होता है। कोई मनुष्य चाहे तो पर उपकार के लिये इसी प्रकार असत्य बोल सकता है जैसे कि वह और कोई कष्ट उठाने के लिये प्रस्तुत हो परन्तु उस को इस भ्रम में नही रहना चाहिये कि यह असत्य ही नही अथवा इसमें कुछ हानि नही। उसको उसका फल भी भोगना पड़ेगा नही तो उसे प्रायश्चित्त कर लेना चाहिये।

पूर्ण सत्य के परिणाम रूप अन्य गुण न्याय परायणता, साहस, निर्भयता, और उदासीनता हैं। जिस की सत्य के ऊपर दृढस्थिति होती है उसको किसी बात का भय नही होता। उस को अपने विचारों के अनुसार कार्य्य करने का साहस होता है और साधारण सुख दुख की ओर वह उदासीन होता है। कष्टों से वह अपने धर्म से नही गिर सकता। वह सत्य के लिये दुख सहन कर सकता है। असत्यवादी की दशा इसके विरुद्ध होती है। उस का साहस डींग मात्र होता है। धर्मात्मा मनुष्यो के सन्मुख उस का शिर नीचा रहता है। वह उसी समय डींग मारता है जब उस को धिक्कारने वाला कोई नही होता। वह अपनी बेईमानी व छल की चतुरता पर अभिमान भी करता है। परन्तु यह उसी समय होता है कि जब सुनने वाले दीन, सहानुभूति अथवा प्रशंसा करने वाले हों। वह अधिक भयभीत इस लिये नही होगा कि कुछ कारण उसे बचाये रहते है। एक कारण समाज का पतन है। वास्तव में जब समाज के सदस्यो का साधारणतया पतन हो जाता है तब ही पाप खुल्लम खुल्ला होते है व पापी डींग मारते हैं। ऐसी दशा से असत्य का साभाविक स्व-

शीलता, क्षमा व सहन शीलता उत्पन्न होते हैं। इस से विरुद्ध प्रकार के वचन व कर्म उसी मनुष्य को हानि पहुचावेंगे। दूसरों के प्रति बुरे विचारों से दूसरों की हानि हो चाहे न हो पर विचार करने वाले को तो अवश्य ही होती है। क्योंकि वह विचार उस के मन मे स्थित हो जाते हैं। अहकार व क्रोधयुक्त वाणी वा व्यवहार दोनों ओर द्वेष उत्पन्न कर के सांसारिक समस्या चाहे उत्पन्न करें वा न करें परन्तु वह उस मनुष्य की जीवात्मा का पतन तो अवश्य करेंगे जो उन का प्रयोग करता है। जहां क्षमा से दोनों ओर शाति होगी वहां बदला लेने के विचार से बदला लेने वाले की दशा, दूसरे मनुष्य पर लेशमात्र प्रभाव डालने से पूर्व ही बहुत दिनों तक, क्षुब्ध रहेगी। आत्मसन्मान की रक्षा के लिये बदला आवश्यक हो या न हो जहा सात्विकता का प्रश्न हो वहा कोई दूसरा उत्तर नही हो सकता। वास्तव में वही जो सन्मान करने योग्य हैं क्षमा भी कर सकते हैं क्योंकि वह उदार चित्त होते हैं और बदला लेने की शक्ति रहते हुए भी क्षमा करते हैं। इस का अर्थ यह नही है कि जो लोग निर्बल हों उन को बदला अवश्य लेना चाहिये क्यों कि उस से तो उन की शारीरिक व सामाजिक निर्बलता से मानसिक निर्बलता और मिल जाती है। जहा सामाजिक धर्म की आज्ञा अपराधी को दंड दिलाना हो वहा भी हृदय में तो क्षमा ही करनी चाहिये।

अहिंसा का सिद्धात भी इन्हीं गुणों के आधार पर है। प्राण हरण के प्रत्येक कार्य्य से जीवात्मा स्वभावत• ही अधिक कठोर, स्थूल और मन अधिक निर्दयी हो जाता है। प्राण हरण की आवश्यकता अपनी अथवा किसी दूसरे की रक्षा के लिये भी हो सकती है। आत्म रक्षा व्यक्ति गत सहायक धर्म है और यह उसी समय न्याययुक्त हो सकता है जब इस से प्रयोजन आध्यात्मिक

उन्नति अथवा किसी विशेष धर्म पालन के लिये समय प्राप्त करना हो। परन्तु यहा भी ऐसे कार्य्य का जो स्वरूप से दोष युक्त है निर्दोष सिद्ध करने का प्रयत्न मात्र ही है। यह सात्विक दोष भले ही हो परन्तु गुण नहीं हो सकता। ऐसी ही दशा मे अर्थात् अपनी रक्षा के लिये झूठ बोलना राजसी है, क्योंकि झूंठ छोटे छोटे बहानों से बोला जा सकता है परन्तु प्राण हरण करना बड़ा घोर कर्म है और सुगमता से बार बार नहीं हो सकता। जब प्राण हरण सामाजिक धर्म की आज्ञानुसार किया जाता है जैसा युद्ध में होता है तो वह राजसी होता है। और जब वह स्वार्थसिद्धि के लिये अथवा विषय प्राप्ति आदिक के लिये किया जाता है तो तामसी होता है। सामाजिक अथवा राजनैतिक विचार से यह अपराध न हो परन्तु उस का आध्यात्मिक परिणाम तो होगा ही। हत्या से स्वभाव निर्दयी व कठोर होता है। दूसरी ओर अहिंसा से जीवात्मा अधिक शुद्ध व शक्तिशाली हो जाता है। जीवात्मा के प्रभाव को सूक्ष्म करने से उस की दूसरी चेतनाओं पर प्रभाव डालने की शक्ति प्रबल हो जाती है। जब कोई मनुष्य विचार व कर्म में पूर्णतया अहिंसा धर्म का पालन करने वाला होता है तो वह अपने शत्रुओं को अपने शील से ही जीत लेता है और मास-भक्षी पशु भी उस के सन्मुख उस के प्रभाव से हिंसा को भूल जाते हैं। साधारणतया अहिंसा का सिद्धात सब मनुष्यों से पालन न हो सके परन्तु इस का कोई कारण नहीं कि हम उस के सिद्धात से भी अनभिज्ञ रहें। मनुष्यों की शक्ति से उस के आध्यात्मिक स्वभाव मे परिवर्तन नहीं हो सकता। उस के अनुसार आचरण करने के प्रयत्न मे इतना फल तो होगा कि सात्विक हत्या ही होगी, और राजसिक व तामसिक हत्या की वृद्धि मे उत्पन्न पतन से समाज की रक्षा होगी।

प्रमोद प्रसन्नता के राजसिक स्वरूप हैं क्योंकि इनमें स्पष्ट क्रिया होती है। साधारण जनता का स्वभाव राजसी होने से इनमे सात्विक प्रसन्नता से भी अधिक फैलने की शक्ति है। चपलता तामसिक है और नीच वृतियों को आनन्द देने वाली होती है परन्तु सात्विक स्वभावों के लिये वह घृणित प्रतीत होती है। कोई कथन व कार्य्य जिसमें कुछ भी चतुरता नही है उसे तामसी मनुष्य भाव भरा कह कर प्रशंसा करते हैं। हास्य, प्रमोद और चपलता गुणों का कार्य्य तो इस लिये नही करते कि उन में चेतनता शक्ति निश्चल शांत व प्रसन्न नही रह सकती, परन्तु फिर भी वह इतने बुरे नही हैं जितने कि विरोधी दोष हैं। जहा गुणों से मन आनन्द मय व विवेकयुक्त रहता है वहां हास्य प्रमोद और चपलता और विशेप कर के अन्तिम विवेक में बाधक होते हैं। इनसे कभी अशुभ परिणाम भी निकलते हैं जिनसे कि स्पष्ट हानि अथवा झगड़े हो जाते हैं। हास्य, प्रमोद व चपलता की अपेक्षा प्रसन्नता, शाति और निश्चलता अधिक समय तक स्थिर रह सकते हैं। यह दूसरे गुण हैं और पहले केवल सुख हैं जो अपने राजसी व तामसी स्वभावों के कारण और अधिक पतित हो सकते हैं। अतएव समाज व व्यक्ति दोनों के हित के लिये मनुष्य को प्रसन्न, शात व निश्चल होना चाहिये। उसको केवल दोषों से ही नही वचना चाहिये वरन् इन राजसिक स्वरूपों और विशेप कर चपलता से भी पृथक् ही रहना चाहिये।

परन्तु कोई मनुष्य दु:ख में भी प्रसन्न कैसे रह सकता है? जिस का हृदय विपाद से भरा है उस की चेष्टा में विपाद होगा। यही नही वरन् वह मनुष्य भी जिस को दुःख का कोई कारण नही यदि विपाद रूप चेष्टा रखने लगे तो कुछ दिनों में बिना कारण विपण्ण रहने लगेगा। दुसरी ओर जो दुखों में होते हुए

भी प्रसन्न मुख रहने का प्रयत्न करते है वह यथार्थ में अपने मानसिक कष्ट को कम कर लेते हैं। वाह्य चेष्टाओं के निरन्तर अभ्यास से वह अन्तर में भी प्रसन्नता शांति और निश्चलता उत्पन्न कर सकते है। इस से स्वभाव में आश्चर्य्य जनक परिवर्तन हो जाता है और दुखमय जीवन भी हर्षमय हो जाता है। इस सिद्धात का प्रयोग गुण प्राप्त करने के लिये तो श्रेष्ठ है परन्तु यदि यह अपने को केवल धर्मात्मा दिखाने के लिये किया जाय तो यह दभ हो जाता है जो असत्य का परिणाम रूप एक दोष है। दभ का परिणाम गुणों का प्राप्त करना इस कारण से नही होता कि उसमें मन का ध्यान इस प्रयोजन पर नही लग सकता दूसरे ऐसी कृत्रिम चेष्टा को स्थिर रखने का प्रयत्न भी नहीं होता क्योंकि वह थोडे समय की कार्य्य सिद्धि के लिये ग्रहण की जाती है।

ॐ राम

१२—सहायक गुण—व्यक्ति गत।

सहायक गुण दैविक गुणों की उनके कार्य्य में सहायता करते हैं। सहायक गुण ऐसी मानसिक व सामाजिक परिस्थिति उपस्थित करते हैं जिनसे दैविक गुणों का उदय व अभ्यास सुगम हो जाय। व्यक्ति गत सहायक गुणों के उदाहरण धर्मनिष्ठा, शौच, विवेक, श्रद्धा, विश्वास, सतोष, मितव्ययिता, सयम, ब्रह्मचर्य्य, और आत्मरक्षा है।

धर्मनिष्ठा से मन निश्चल, शात व कोमल होता है। इस को कृत्रिम धर्मनिष्ठा को आडम्बर से न मिलाना चाहिये। धर्मनिष्ठा मन से सम्बंध रखती है। इससे ध्यान ऐसी सत्ता पर जमता है जो पवित्र, पुण्यात्मक, दया वान, कृपामयी, शात व निश्चल है। जो विचार

ही साथ वह उपासना व स्वाध्याय भी करता रहे। विवेक रहित होने से ही ऐसे विचारों का प्रचार हुआ है। विचार शून्यता के दो पूर्ण विरोधी कारण हो सकते हैं। यह पूर्ण तामस के कारण भी हो सकती है और शुद्ध सत्व से भी। शुद्ध सत्व वाली तो पुण्य पाप के विवेक के पश्चात् प्राप्त होती है। और तामसी दशा विचार रहित पाप का परिणाम है। तामसिक विचार शून्यता जीवात्मा के लिये कल्याणकारी नही हो सकती। वह मुक्ति नहीं है। इस प्रकार पहले दूसरी ओर के सिरे तक जाने में मुक्ति के लिये साधन का समय बढ जाता है। बीच में तख्त लगाने के बदले यह तो जान बूझ कर लगे लगाये तख्ते के निकाल देना है कि जिस से पहले नीचे गिर पडें। परन्तु इस प्रकार गिरने में एक और भय है। ऊचे से गिरती हुई गेंद पृथ्वी से टकराने के पीछे इतनी ऊचा नहीं चढती जितनी कि वह पहले थी। पृथवी की जिस आकर्षण शक्ति ने गिरने के वेग को बढा दिया था वही अब उसके ऊंचे उठने में बाधक होती है। प्रतिरोधक पदार्थों के अभाव की दिशा में पतन होना तो सहज है परन्तु फिर उठना कठिन है। नष्ट करना सहज है परन्तु निर्माण करना कठिन है। तामसिक दशा की ओर जाने का वही स्वभाव, जिस से पतन मे शीघ्रता होती हे उर्द्धव गति को रोकता है। जिस प्रकार गेंद को बल्ले से मार कर उसकी उर्द्धव गति को बढ़ाकर उसको ऊचा फेंक सकते हैं, इसी प्रकार आत्मा की उन्नति के लिये भी सहायता की आवश्यकता होगी और विवेक की फिर भी आवश्यकता होगी। यह सत्य है कि विवेक क्रियात्मक है परन्तु वह क्रिया सात्विक है और उसका फल जीवात्मा की शुद्धता है। गुणों का अभ्यास भी क्रियात्मक है परन्तु इस कारण उस अभ्यास को नही त्यागा जा सकता। अधोगति का प्रतिरोध

ही प्रयत्न है और प्रयत्न क्रिया है। परन्तु विना किसी ऐसी क्रिया के उन्नति हो ही नही सकती। ऐसी क्रियाओं का त्याग सात्विक दशा को प्राप्त नही कराता। यह अकर्मण्यता आलस्य और विचार हीनता के तामसिक अर्थों का फल है। "चिन्ता न करो" इस आज्ञा का प्रयोजन विषाद युक्त चिन्ता से है क्योंकि वह दोष है जैसा हम देख चुके हैं। इसके अतिरिक्त यह उन कार्य्यों के लिये भी कहा जा सकता है जो अकस्मात् भूल से हो जाय। परन्तु वहा भी हम को भविष्य में सचेत रहना उचित है। इससे जान बूझ कर असत्य अनुचित कार्य्य करने की अनुमति कदापि नही हो सकती। हमारे प्रत्येक कार्य्य की जाच विवेक से होनी चाहिये। धार्मिक पुस्तकों का अध्ययन व सत महात्माओं का सग इस गुण के वृद्धि करने वाले हैं। प्रतिदिन के कार्य्यों का व्योरा बनाना व रात्रि को शयन से पूर्व दिन भर के कामों को स्मरण करना भी इसके लिये अति लाभदायक हैं।

विवेक से हमें यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है। श्रद्धा व विश्वास उसकी रक्षा करते हैं। उनसे हमारे कार्य्यों में भी हमारा सपूर्ण आध्यात्मिक वल साथ रहता है। श्रद्धा विश्वास जब विवेक रहित होते हैं तो वह अधे हो जाते हैं और उन्नति प्रतिरोधक होते हैं। नही तो इनसे आध्यात्मिक उन्नति में सहायता मिलती है। क्योंकि इनसे चित्त की एकाग्रता सुगम हो जाती है। फिर भी अधविश्वास विश्वास हीनता की अपेक्षा श्रेष्ठ है। क्योंकि इस दूसरी दशा में तो मनुष्य अवलम्बन रहित हो जाता है। यह उस सशयात्मक स्वभाव के विरोधी हैं जिसमें मनुष्य प्रत्येक बात में छिद्र ही देखता है। विवेक युक्त सुतर्क तो सत्य की जिज्ञासा है, परन्तु केवल पक्षपात करना जान बूझ कर नेत्र बन्द करना है। श्रद्धा से मनुष्य निश्चयात्मक भाव से सधा रहता है और

संशयात्मक स्वभाव वाला मनुष्य क्षुब्ध समुद्र में पतवार रहित नाव के समान है। क्षुब्ध समुद्र में निरअवलम्ब होने की अपेक्षा तो लंगर डाले रहना ही श्रेष्ठ है। चाहे वह स्थान घर से बहुत दूर हो। यदि घर जाने की राह हमको ज्ञात हो जाय तो विवेकानुसार उस को जितना शीघ्र सभव हो स्वीकार कर लेना और फिर उस पर जमे रहना चाहिये। किसी रास्ते चलनेवाले के विचार से हमको अपनी राह नही छोडनी चाहिये। परन्तु यदि किसी पुरुष का कथन सुगर्भ युक्तियों से युक्त हो अथवा ऐसा प्रतीत होता हो कि उस पुरुष ने हमारे घर को देखा है तो हमें उसके परामर्श को स्वीकार करना चाहिये। इसका नाम श्रद्धा विश्वास है। कुछ मनुष्यों का यह कहने का स्वभाव होता है कि सब परमात्मा की इच्छानुसार होता है। जब इस कथन का कारण विनय शीलता होता है तो यह श्रद्धा विश्वास कहलाते हैं और जब इसका कारण आलस्य होता है तो यह विचार रहित भवितव्यतात्मक विश्वास होता है। पुण्यात्मा मनुष्य अपनी शक्ति के अनुसार पूर्ण उद्योग करता है परन्तु उसकी प्रशसा स्वय नही ग्रहण करता। वह उस सब को निर्गुण व सगुण ईश्वर को जिसका भी वह उपासक हो अर्पण कर देता है। सफलता व निष्फलता दोनों में उसका भाव एक सा विनीत और सतुष्ट रहता है परंतु इससे वह पुरुषार्थ हीन नही होता। उसमे श्रद्धा है परन्तु भाग्य पर अंध विश्वास नही है। श्रद्धा विश्वास विनीत भाव के सयोग से सन्तों को प्रसन्न कर उनके उपदेश द्वारा विवेक को बढाते हैं। कोई अपना समय पूर्णतया सशयात्मक स्वभाव वाले को शिक्षा देने में नष्ट करना न चाहेगा क्योंकि वह पुरुष आदर से सुनने और समझने के बदले तर्क से केवल खंडन करने में ही प्रसन्न होते हैं। उचित वृत्ति तो यह है कि सूक्ष्म विचार करे

और जो विवेक युक्त हो उसे ग्रहण करे। बिना समझे तर्क करना हठ है जो जिज्ञासुओं के लिये लाभदायक नहीं है।

सतोष, प्रसन्नता, शाति और निश्चलता गुणों की सहायता करता है। इसका विरोधी दोष तृष्णा है। जो मिले उसी में प्रसन्न रहना और दूसरों की वस्तुओं की इच्छा न करना सतोष है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य को अपनी दशा के सुधारने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। परन्तु किसी भी दशा में उस को खिन्न अथवा असतुष्ट नहीं रहना चाहिये। तृष्णा उस दशा में ईर्ष्या हो जाती है जब कि ध्यान अपनी दशा को सुधारने की विधियों के बदले दूसरे के सौभाग्य को बिगाडने पर लगा हो। उद्यम बुरा नहीं है परन्तु उसमें बराबरी करने के लिये निश्चयात्मक व शात उद्योग होना उचित है। उद्यम उन्नति का कारण है। असन्तोष से उन्नति हो चाहे न हो परन्तु उससे आध्यात्मिक पतन होता ही है। ईर्ष्या दोष है। सतोष युक्त उद्यम सात्विक है, असतोष युक्त उद्यम राजसी है। और ईर्ष्या युक्त तृष्णा तामसी है। पहले मनुष्य दूसरे की उन्नति से भी प्रसन्न होते हैं। दूसरे प्रकार के मनुष्यों का भाव अन्य मनुष्यों के सौभाग्य के समाचार सुनने पर कुछ ऐसा होता है मानो किसी वस्तु के अभाव से दुखी हो रहा हो और तीसरे प्रकार के मनुष्यों को तो ऐसे समाचार से स्पष्ट दुख होता है।

सतोषी मनुष्य धर्मानुसार कार्य्य करता है। वह उसी से सतुष्ट रहता है जो उसे मिल जाय वह न इधर देखता है और न उधर। किसी यथार्थ में लाभकारी व प्राप्त करने योग्य वस्तु के लिये तो वह कष्ट करने के लिये तय्यार होता है परन्तु किसी तुच्छ वस्तु अथवा अप्राप्य वस्तु के लिये वह अपनी शाति भङ्ग नहीं करता। वह सासारिक उन्नति के लिये कर्म तो करता है

परन्तु उसके लिये अपने धर्म को नष्ट करने को तय्यार नहीं है और स्वार्थ व परमार्थ दोनों का उचित रूप से पालन करता है। वह मेहन्ती है परन्तु चिन्ता नही करता। वह अपनी अपेक्षा दूसरों के सुख व कल्याण का अधिक विचार करता है। वह अपनी शारीरिक इच्छाओं को स्वतन्त्र नहीं होने देता और इसी कारण से निश्चल व शांत रहता है। वह विवेक से यथार्थ सुख का ज्ञान प्राप्त करके उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है।

ऐसी सतोषी वृत्ति के लिये मितव्ययिता व आत्म सयम परम आवश्यक हैं। केवल गुणों के अभ्यास से ही काम नहीं चलता वरन् पापिक वृत्तियों का निग्रह भी होना चाहिये। क्रोध, निर्दयता, कायरता, असत्यता, बेईमानी, कठोरता, अभिमान, ईर्ष्या, मत्सर, चपलता, तृष्णा आदिक दोषों को केवल गुणों के अभ्यास से ही निर्बल नहीं करना चाहिये वरन् उनका स्वय भी निग्रह करना चाहिये। तामसिक वृत्तियों को तो पूर्णतया रोकना चाहिये और राजसिक वृत्तियों के व्यवहार में मितव्ययिता होनी चाहिये। परन्तु इनमें भी मितव्ययिता केवल एक बीच की दशा है जिसकी आवश्यकता सामाजिक अवस्था अथवा पूर्व सस्कारों के कारण होती है। मितव्ययिता विरोधी विचारों के लिये केवल एक मध्यावस्था है नही तो प्रयत्न तो यही होना चाहिये कि सात्विक आदर्श सदैव ध्यान में बना रहे।

ब्रह्मचर्य्य शरीर व मन दोनों के लिये ही अत्यन्त आवश्यक है। मनुष्य शरीर की विशेषता को तो हम देख ही चुके हैं। ब्रह्मचर्य्य से हमारी शारीरिक शक्ति सुरक्षित रहती है, शरीर निरोग और स्वस्थ रहता है, और शारीरिक सयुक्त भाव स्थिर रहता है। निर्बल शरीर का सयुक्त भाव झटपट क्षुब्ध हो सकता है और उसका प्रभाव मन पर भी पड सकता है। स्वस्थ शरीर से

मन भी स्वस्थ रहता है और आध्यात्मिक उन्नति के लिये उसका यत्न उपयोगी दशा में बना रहता है। इसमें अमितव्ययिता से शरीर दुर्बल हो जाने से जीवात्मा अपनी पूरी शक्तियों का प्रकाश नही कर सकता। इस से आध्यात्मिक व भौतिक दोनों प्रकार की उन्नतियां स्थगित हो जाती हैं। काम ऐसी प्रबल शक्ति है कि यह समाज के लिये सब से कठिन समस्याओं में से एक है। जाति की धार्मिक निर्बलता का एक बडा भारी कारण यही काम शक्ति है। इसमें अमितव्ययिता होने से सपूर्ण अवगुण आजाते हैं। इससे मनुष्य अच्छे प्रकार से कर्म करने योग्य भी नहीं रहता। उसकी दिखावट व सुख के लिये इच्छा तो बढ जाती है और उसका शरीर आलसी व सुस्त बन जाता है। इसमें थोडी सी भी भूल से पतन हो सकता है। इस लिये ब्रह्मचर्य्य की रक्षा में मनुष्य जितना चैतन्य रहे वही थोडा है।

जहां काम सम्बन्धी व्यवहार में अमितव्ययिता अति निन्द-नीय है तहा नियमित धर्मानुसार स्त्री पुरुष का सबन्ध भी समाज की रक्षा के लिये आवश्यक है। आध्यात्मिक उन्नति भी स्थिर समाज में ही हो सकती है और उसकी रक्षा के लिये योग्य मनुष्य की आवश्यकता होती है। परन्तु निर्बल सन्तान उत्पन्न करने से समाज की कोई सेवा नही होती। इससे तो खाद्य पदार्थों पर केवल भार बढ़ता है। यही नही वरन् ऐसे निर्बल शरीर वाले, कि जिनका न शरीर स्थिर है और न मन, ससार को भी अधोगति की ओर घसीट ले जाते हैं। उनकी स्थिति ही समाज को भय रूप है। यह प्रभाव बढता ही चला जायगा। इसका प्रतिरोध केवल एक ही है कि इसका कारण, व्यभिचार नष्ट किया जाय।

यदि धर्मनिष्ठा व ब्रह्मचर्य्य की समाज में वृद्धि हो तो और सब गुण तो स्वभावत ही पीछे पीछे चले आते हैं। समाज अपने

शरीर व मन दोनों को ही फिर प्राप्त कर लेता है। ब्रह्मचर्य्य शरीर को स्वस्थ व स्थिर रख कर शक्ति शाली (पुरुष) गुण सत्य व उससे उत्पन्न गुणों के विकाश में सहायक होता है। निर्बल शरीर व अस्थिर मन वाले मनुष्य की अपेक्षा बलवान मनुष्य के कोमल व शात होने की सम्भावना अधिक है। धर्मनिष्ठा तो स्वय मन पर प्रभाव डालती है और उसको शुद्ध करके व शारीरिक इच्छाओं का निरोध करके सत्‌गुणों का विकाश करती है। स्वार्थी व कठोर मनुष्यों की अपेक्षा पवित्र व कोमल हृदय मनुष्य छोटी छोटी बातों मे भी अत्यन्त सत्यवादी होगा। ब्रह्मचर्य्य शरीर रक्षा के लिये परम आवश्यक है और शरीर आध्यात्मिक उन्नति के लिये आवश्यक है।

इसको अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि सामाजिक सगठन सम्बन्धी वह सब विचार जो दाम्पत्य सम्बध में शिथिलता का प्रस्ताव करते हैं वह उस सगठन के नाश का प्रयत्न स्वय करते हैं। यह न समझना चाहिये कि पूर्ण स्वतत्रता से प्राकृतिक नियमों के कारण काम सम्बधी अमितव्ययिता नष्ट हो जायगी या कि आजकल की रोक टोक के कारण प्रतिकार द्वारा यह बढती है। इस सिद्धात पर तो फिर किसी भी पाप व अपराध का निषेध नहीं होना चाहिये क्योंकि पूर्ण स्वतत्रता से सब बातें अपनी मर्यादा मे आ जावेंगी। परन्तु अनुभव इस आशा के विरुद्ध है। काम इच्छा की वृद्धि का कारण उस का निरोध नही वरन् उस में निरत होना है। इससे कामशक्ति निर्बल हो सकती है और उस का स्वभाव नि:सन्देह निर्बल ही सकता है परन्तु वह निर्बलता उस शक्ति की स्थिरता व बल मे होगी उसकी उत्तेजना में नही। और यह कोई उन्नति का चिन्ह नहीं है। बहुत से पशु प्राकृतिक मर्य्यादा मे जो रहते हैं उस का कारण स्वतत्रता नहीं

है वरन् यह है कि उन में मनुष्य के समान चतुरता व कल्पना शक्ति नही होती। और फिर कुछ पशुओं में, जैसे कि वन्दर, यह भी देखा जाता है कि छोटे बच्चे भी अपने बडों को नकल करते हैं। मनुष्य तो इच्छित वस्तु तथा उससे प्राप्य सुख की कल्पना कर सकता है और इस प्रकार इच्छा के बल को अपनी ही क्रिया से बढ़ा सकता है। उस का अन्तिम परिणाम ध्यान में इस कारण नहीं रहता कि मनुष्य भविष्य में प्राप्त होने वाले सुखों की अपेक्षा निकट वर्त्ती सुखों को अधिक चाहता है। इच्छा के बार बार पूर्ण होने से उस का बल घटता नहीं वरन् बढता है। साधारणतया तो मन गृहस्थरूपी धुरी के चारों ओर घूमता है। क्षोभ-रहित गृहस्थ जीवन के नष्ट होने से चपलता बढ जायगी और स्वभाव की स्थिरता घट जायगी और इस से जाति का धार्मिक तेज निर्बल हो जायगा। स्त्री पुरुषों के परस्पर व्यवहार की स्वतन्त्रता से मन निरावलम्ब हो जाता है और वह कौन सा अवगुण है जो अस्थिर मन में प्रवेश न कर सकता हो। इस सम्बध में किसी भी चेतावनी में अनुचित शीघ्रता नही कही जा सकती। भविष्य की मनुष्य समाज को नष्ट भ्रष्ट करने के लिये स्त्री पुरुषों के पारस्परिक सम्बध की शिथिलता के प्रस्ताव ही अत्यन्त भयकारी हैं। ब्रह्मचर्य्य का अभ्यास केवल कर्म्मों मे ही नही होना चाहिये वरन् वाणी व विचारों में भी होना उचित है। कुत्सित वस्तुओं का विचार करना, अश्लील वृत्तान्तों का पढना व अनुचित गीतों का गाना, यह सब अपना प्रभाव मन पर डालते हैं और काम इच्छा को उत्तेजित करते हैं। कोई शिक्षा प्रणाली इस सम्बध में जितनी अधिक सचेत हो उतना थोडा है। और न कोई समाज ही अपने साहित्य को इस विचार से निरीक्षण करने में अधिक सावधान कही जा सकती है।

आध्यात्मिक उन्नति के लिये मनुष्य शरीर की आवश्यकता को हम जान ही चुके हैं। उस की रक्षा हमारा प्रथम कर्तव्य है। हम को उस की रक्षा अवगुणों अर्थात् मानसिक रोगों से, शारीरिक रोगों से व आघातों से करनी चाहिये परन्तु पुण्यों से नहीं। जब उस की रक्षा ही हम गुणों के अभ्यास के लिये करते हैं तो फिर उस की रक्षा में गुणों का त्याग कैसे कर सकते हैं। यह युक्ति कि किसी गुण का थोड़ा सा उल्लघन उसी गुण में भविष्य में पूर्णता प्राप्त करने के विचार से किया जाय तो वह अनुचित नहीं है अशुद्ध है क्योंकि यह इस वात को पूर्णतया भुला देती है कि किसी गुण से उत्पन्न बडे से बडे कष्ट को सहन कर लेना ही उस गुण की पूर्णता है। यह बात ही कि किसी को यह सिद्धांत युक्तिपूर्ण प्रतीत होता है इस बात का प्रमाण है कि उस को उस गुण मे पूर्णता प्राप्त नहीं है। इस कारण यदि कोई किसी भी कारण से धर्म मार्ग से भूल जाय तो उसे अपने को उस कर्म प्रभाव से शुद्धि कर लेना उचित है। जहा मनुष्य इन युक्तियों से आत्मरक्षा का समर्थन करते हैं तहां वह अपने जीवात्मा की अपने ही अवगुणों से रक्षा करने की चिन्ता नहीं करते। इस यथार्थ आत्मरक्षा की पहली विधि ब्रह्मचर्य्य पालन है क्योंकि इस से शरीर अपनी और प्रकारों से भी रक्षा करने के योग्य हो जाता है। और धर्मनिष्ठा हमारे मन की हमारी अनुचित इच्छाओं से रक्षा करती है। और इस विचार से दैविक प्रेम का प्रभाव भी अकथनीय है।

ॐ राम

१३—सहायक गुण—सामाजिक।

दैविक व सहायक गुणों के अभ्यास से ही सामाजिक सगठन स्थिर होगा, साथ साथ सामाजिक संगठन की स्थिरता से इन

गुणों के अभ्यास में भी सहायता मिलेगी। समाज की अस्थिरता मनुष्य के सुधार के कष्ट को बढा देती है क्योंकि व्यक्तिगत कठिनताओं में अब सामाजिक क्षोभ और मिल जाता है। किसी सामाजिक स्थिति से धर्मात्मा मनुष्य का शांतिमय जीवन व्यतीत करना भी कठिन हो सकता है। व्यक्तिगत गुणों से सम्पूर्ण समाज भी शांत रह सकती है क्योंकि उनमे समाज के सब ही सदस्य धर्मात्मा होंगे। परन्तु सब मनुष्य आध्यात्मिक उन्नति की एक ही अवस्था में नहो होते। अस्तु क्षोभ के कारण प्राय' उपस्थित होते हैं। अतएव सामाजिक गुणों का विशेष विचार भी आवश्यक है। ऐसे गुणों के लिये राजनैतिक दंड व सामाजिक सम्मति रूप दो सामाजिक अनुज्ञाएँ हैं। यह अनुज्ञाएँ आध्यात्मिक अनुज्ञा से अधिक प्रत्यक्ष हैं और इसी कारण ऐसे मनुष्यों के लिये अधिक प्रभाव शाली होती हैं। यदि इन अनुज्ञाओं के कारण इन मनुष्यों में सामाजिक गुण भी आजावें तो भी शनै. शनै और गुण उन में प्राप्त हो जायगे। क्योंकि राजनैतिक व सामाजिक अनुज्ञाओं के लिये भी अन्तिम अनुज्ञा आध्यात्मिक ही है। अस्तु इन अनुज्ञाओं के अनुसार व्यवहार गुणों का विकाश करने वाला होगा। ऐसी अनुज्ञाओं के आधार पर जो सगठन हो उस की रक्षा केवल अन्तरीय विघ्न करने वालों से ही नहीं करनी चाहिये वरन् वाह्य आघातों से भी करनी आवश्यक है। अतएव सामाजिक गुणों का केवल शांतिमय व्यवहार ही फल होना पर्य्याप्त नहीं है वरन् उन से वाह्य आघातों से रक्षा का भी प्रबंध होना चाहिये। सामाजिक आवश्यकताओं से ऐसे कर्म करने पड जाते हैं जो दैविक गुणों के विचार से अनुचित प्रतीत हों। और किसी किसी अवस्था में जैसे कि अपराधियों के न्याय में व धर्म पूर्ण युद्ध में, ऐसी आवश्यकताएँ इतनी अधिक हो जाती हैं कि प्रत्येक कर्म का

प्रायश्चित करना सम्भव न हो। ऐसी दशा में कार्य्यों को अपना धर्म समझ कर करना चाहिये और उन में अपनी इच्छा का लेश मात्र भी समावेश नही रखना चाहिये। इस से वह कर्म्म सात्विक हो जांयगे। क्योंकि वह केवल आवश्यकता के अनुसार होंगे और उन में अपनी क्रिया के विस्तार का राजसिक स्वभाव न होगा। इस सम्बध में यह भी स्मरण रखना चाहिये, जैसा कि पहले भी कह चुके हैं कि असत्य भाषण हिंसा की अपेक्षा सुगम है अस्तु सामाजिक रक्षा के लिये प्राण हरण किया जा सकता है परन्तु असत्य भाषण इस प्रयोजन से भी अनुचित है। दृढता युक्त गुणों का आधार सत्य है और धर्मानुसार आत्मरक्षा के सम्पूर्ण कर्म्म सत्य के आधार पर होने चाहियें। विना सत्य के आधार के उन मे धार्मिक वल नही होगा और सम्भावना यह है कि वह अनेक वहानों से युक्त अनुचित कर्म हों। दूसरे सत्य के अश से वह कर्म भी सात्विक हो जायगा और उस का अनुचित विस्तार नही होगा। इस के अतिरिक्त मनुष्य का अपना जीवन भी शुद्ध होना चाहिये और इस प्रकार वह प्रत्येक कर्म के लिये प्रायश्चित न करता हुआ भी पवित्र रह सकता है। और फिर उस को उन कर्मों की चिन्ता नही करना चाहिये क्योंकि ऊपर के सिद्धांतों के अनुसार आचरण करने से उस का धर्म सुरक्षित रहेगा। और यदि उस का अपना आचरण धर्मानुसार नहीं है तो उसके सामाजिक कर्म भी अशुद्ध होंगे और उस के सम्पूर्ण जीवन की पवित्रता न होने से उस को प्रत्येक कर्म के लिये प्रायश्चित करना आवश्यक है। सम्भव है कि ऐसे सामाजिक कर्म्म करने वाले सव मनुष्य पवित्र न हों परन्तु उन से हमें कोई प्रयोजन नहीं। ऐसे मनुष्य सब अवस्थाओं में मिलेंगे। वह अपने कर्मों के फल भोगेंगे। हमारा कार्य्य तो केवल सिद्धातों का निरूपण करना

है। उनके अनुसार आचरण करने या न करने से प्रयोजन उन का है अथवा उस समाज का है जिस के कि वह सदस्य हैं।

कभी कभी दो सामाजिक गुणों नियमानुसार आचरण व अन्याय के प्रतिरोध, में विरोध उपस्थित होता है। नियमानुसार आचरण की तो सामाजिक जीवन के लिये ही आवश्यकता है। विना शांतिमय समाज के किसी प्रकार की भी उन्नति नहीं हो सकती। कोई राज्य नियम व शांति के स्थापन में अनुचित दृढता नहीं कर सकता। परन्तु कोई नियम गुणों का उत्पादक भी हो सकता है और वह गुणों का विरोधी पाप मय भी हो सकता है। यदि किसी देश की नीति गुण उत्पादक नहीं है तो वह नीति होने योग्य ही नहीं ऐसी नीति सामाजिक सङ्गठन को स्थिर करने के बदले उनके नाश का कारण उपस्थित कर देती है। इसके कई कारण हो सकते हैं। जब मनुष्यों का कोई विशेष सघ अधिकार प्राप्त कर ले तो वह और सघों को हानिकारी और अपने लिये लाभकारी नियम बना सकता है, अथवा अयोग्य पुरुष अधिकार प्राप्त कर बढंगे नियम बना सकते हैं, अथवा योग्य पुरुष भी भूल से ऐसा कर सकते हैं, अथवा कोई अन्यायी अत्याचार कर सकता है अथवा किसी विदेशी राज्य के उस देश के निवासियो के भले की चिन्ता न करने से ऐसा हो सकता है। तीसरी दशा में तो कोई कठिनता नहीं है क्योंकि ऐसी भूल सब से ही सम्भव है। इसका उपाय ऐसे नियमों का प्रतिरोध नहीं है वरन् उनका नियमानुसार संशोधन है। ऐसी स्थिति के, जो प्रत्येक प्रकार की राज्य प्रणाली व अधिकार में अनेक बार हो सकती है, सुधार के लिये शांति मय प्रतिरोध के असीम भय जनक सम्भावनाओं का भार नहीं लिया जा सकता। दूसरी दशा में संशोधन के संग उन अयोग्य पुरुषों को भी पृथक् करना उचित है। परन्तु यथार्थ

कठिनता तो पहली, चौथी व पाचवी दशाओं में है क्योंकि उनमें दोषियो का पृथक् करना सहज नहीं होता और जहा पहली दो दशाओं में जानबूझ कर हानि नहीं की गई थी तहा इन तीन दशाओं में जान बूझ कर अनुचित नियम बनाये जाते हैं। अस्तु इन तीन दशाओं में अन्याय का प्रतिरोध ही यथोचित गुण है। परन्तु इस गुण के विचार शून्य व विवेक युक्त प्रयोगों का ज्ञान बड़ा कठिन है। इसमें भय यह रहता है कि इसके प्रयोग से सामाजिक सङ्गठन के नष्ट करने वाली ऐसी बड़ी बड़ी शक्तिया सचलित न हो जांय कि जो अपने वेग से बुरों के सङ्ग अच्छे नियमों को भी उडा दें और सम्पूर्ण समाज को ही नष्ट भ्रष्ट कर दे। ऐसी अवस्था भी प्राप्त हो सकती है कि जिसमें इस भय को भी सहन करना पडे परन्तु इससे पूर्व स्थिति पर शाति से पूर्ण विचार कर के इसकी आवश्यकता प्रत्यक्ष कर लेनी चाहिये। अनेक बार तो अत्याचारियो के अपने बल के अभिमान से भी उत्तेजना बढ जाती है और शात विचार का अवसर मिलना असम्भव हो जाता है। यथार्थ में प्रभुता मद उत्पादक है और उस समय यह स्मृति नही रहती कि वही कार्य्य कि जो बलवानों के हितार्थ किये गये हैं किसी समय उन करने वालों के ही लिये अत्यन्त हानि कारक होंगे। कोई अत्याचार भी सदैव स्थित नहीं रह सकता। किसी न किसी दिन उसका अन्त अवश्य होगा और जब हिसाब का व्यौरा होगा तो यह ज्ञात होगा कि सम्पूर्ण अनुचित लाभ से हानि अधिक हुई। स्वार्थ प्रेरित विचार हीन प्रतिरोध और विवेक पूर्ण धर्मानुसार प्रतिरोध की एक बडी सुन्दर परीक्षा प्रतिरोधक की कष्ट सहन करने की शक्ति है। अनुचित नियम के भङ्ग के दण्ड को सहर्ष सहन करके अन्याय का प्रतिरोध अवश्य धर्मानुसार है। परन्तु नियम के अनुचित

होने का निर्णय अति सूक्ष्म तथा पूर्ण विचार से होना चाहिये। जब उस विचार में और भी विश मनुष्यो की अनुमति हो तो यह उस विचार के उचित होने का चिन्ह हो सकता है। सशस्त्र प्रतिरोध व शात प्रतिरोध में एक भेद है। सशस्त्र प्रतिरोध में तो उसके भय व सभावनाएँ सबको प्रथम से ही ज्ञात होती हैं परन्तु शांत प्रतिरोध में उसके सम्पूर्ण परिणाम सब पर प्रकट नहीं रहते। सशस्त्र प्रतिरोध में उसके करने के निश्चय के लिये ही बड़े साहस की आवश्यकता होती है और शात प्रतिरोध में जब कष्ट का समय उपस्थित होता है तब अत्यत सहन शीलता की आवश्यकता होती है। कार्य्य क्रम में भी सशस्त्र प्रतिरोध में निशङ्क साहस की आवश्यकता होती है और शात प्रतिरोध में अपने मन पर पूर्ण स्वत्व की आवश्यक्ता होती है। प्रतिपक्ष की अवस्था सशस्त्र की अपेक्षा शातमय प्रतिरोध में अधिक कठिन, अप्रिय व सभ्रम हो जाती है क्योंकि इसमे उसको निहत्थे मनुष्यों के विरुद्ध बल के प्रयोग की आवश्यकता होती है। इन सब कारणों से शातिमय प्रतिरोध का अवलम्बन उसी समय करना चाहिये जब और कोई उपाय न रहे। जहां प्रजा की अनुमति से शासनप्रणाली में सुधार करने की सम्भावना हो वहा तो इस प्रतिरोध का कदापि प्रयोग नहीं करना चाहिये। अथवा जहा देश की नीति में कोई दोष न हो और यदि दोष तो हो परन्तु उसका सुधार व्यवस्थापक सभा के द्वारा सुगमता से हो सके तो वहा नियम विरुद्ध किसी मनुष्य सघ के अभीष्ट सिद्धि के लिये ही इस प्रतिरोध का प्रयोग अनुचित है। इन सब विचारों से ऐसी अनेक दशा हो सकती हैं कि कोई अटल नियम नहीं बध सकता वरन् दोनों गुणों के केवल साधारण परिणाम का निरूपण ही सकता है। साधारणतया नियमानुसार आचरण का गुण ही ठीक है। हर किसी को

नियम भग करने के लिये धर्मविचार का बहाना बनाने का अधि
कार नही दिया जा सकता। एक बार तो वह यथार्थ में धर्मा
नुसार भी होगा परन्तु उसके पश्चात् अनेक समयों पर धर्म क
केवल बहाना होगा। इसके अतिरिक्त सिद्धान्तों के समझने मे
भूल भी हो सकती है। परन्तु असाधारण अत्याचार की दशा में
शांतिमय प्रतिरोध के प्रयोग की आवश्यकता पड सकती है।
जब एक मनुष्यो की समाज की समाज किसी नियम का विरोध
करे तो उचित यही है कि उसकी फिर जाच हो।

प्रतिरोध उस समय सात्विक होता है जब वह अपनी रक्षा
अथवा किसी दूसरे की रक्षा में किया हो परन्तु इसका प्रयोजन
किसी दूसरे को हानि पहुचाने का विचार नही होना चाहिये।
यह उस समय राजसिक हो जाता है जब इसके उपायों में
दूसरों का कष्ट भी आजाता है, चाहे इस समय भी यह केवल
अपनी रक्षा के ही लिये हो। यह उस समय तामसी हो जाता है
जब वह क्रोधात्मक हो जाय और प्रतिपक्ष को दड देने के लिये
उसको नष्ट करने की इच्छा से किया हो। यह राजसी व तामसी
दशाएँ समाज के सुधार के लिये आवश्यक हों या न हो परन्तु
आध्यात्मिक विचार से तामसी दशा तो अवश्य ही दोषयुक्त
है। भविष्य मे भी ऐसे अत्याचार को असम्भव करने के लिये
भी शांतिमय प्रतिरोध तामसी नही है परन्तु क्रोधात्मक दड देने
के विचार से किया हुआ प्रतिरोध तामसी है। सात्विक प्रतिरोध
तो गुण है परन्तु जब मनुष्यों की समाज की समाज ऐसा करती
है तब उसके तामसी हो जाने का भय रहता है क्योंकि साधारण
मनुष्य तो सब सात्विक नही होते।

अस्तु ऐसे प्रतिरोध को समाजिक करने में बड़ी सावधानी से
कार्य्य करना चाहिये क्योंकि इससे समाज की स्थिति के लिये

भी भय के कारण उत्पन्न हो सकते हैं। इसी प्रकार पुण्यात्मक व लाभकारी नियमों का पालन सात्विक है। सम्पूर्ण नियमों का पालन केवल सामाजिक संगठन को स्थिर रखने के लिये राजसी है। और पापात्मक नियमों का भय के कारण से पालन तामसी है।

नियमानुसार आचरण व अत्याचार का प्रतिरोध यह दोनों गुण तो अधिकारी व आधीन शक्तियों के परस्पर सम्बध के विषय में हैं। सहन शीलता व परस्पर सहायता सामाजिक गुण समान शक्ति वाले मनुष्यों में वर्त्तने योग्य हैं। निश्चलता, शांति व प्रसन्नता के दैविक गुणों की तीव्रता के अनुसार सामाजिक गुण नियमानुसार आचरण की मात्रा होती है, सत्य के अनुसार अत्याचार के प्रतिरोध व देश प्रेम की तीव्रता होती है, और सहन शीलता व परस्पर सहायता की शक्ति दया, कोमलता व विनय शीलता पर निर्भर है। जिस प्रकार दया व न्याय के दैविक गुणों में विरोध हो सकता है उसी प्रकार सामाजिक जीवन में भी सहन शीलता व समाज रक्षा की आवश्यकताओं में विरोध हो सकता है। परन्तु साधारणत. सहन शीलता के बिना सामाजिक जीवन असम्भव हो जायगा। असहन-शीलता से तो समाज का प्रयोजन ही नष्ट हो जायगा। सार्थक समाजिक जीवन के लिये सहन शीलता ही नहीं वरन् परस्पर सहायता भी आवश्यक है। परन्तु किसी अपराधी की सहायता पुण्य नहीं हो सकती।

जिस प्रकार ब्रह्मचर्य्य व आत्मरक्षा शरीर की स्थिति के लिये आवश्यक हैं इसी प्रकार सामाजिक सङ्गठन की स्थिरता के लिये देश प्रेम आवश्यक है। कभी कभी देश प्रेम में स्वाभिमान के भाव व आत्मगौरव सम्बन्धी विचारों की शक्ति का भी संयोग

हो जाता है परन्तु दैविक गुणों मे तो उसका आधार सत्य है। जब देश प्रेम सत्यता से युक्त नही होता वरन् सामाजिक प्रशंसा के विचार से होता है तो वह इतना दृढ़ नही होता। कोमलता व विवेक से युक्त देश प्रेम सात्विक है। इन गुणो से रहित होने पर वह धर्मोन्मत्तता की वह तामसी दशा है जो कट्टरता, अभिमान, व अहंकार से उत्पन्न होती है। जब देश प्रेम चतुरता व विचार से युक्त होता है तो इसकी दशा राजसी होती है।

देश प्रेम समाज संगठन की स्थिरता के लिये अत्यन्त आवश्यक होने से परम गौरव युक्त सामाजिक गुणो में से है। जब हम विचार करते हैं कि समाज मनुष्यों की शक्तियों के विकाश पर कितना प्रभाव रखती है और उनके लिये आध्यात्मिक उन्नति सम्भव करती है तब हमें ज्ञात होता है कि समाज रक्षा के लिये जो कुछ भी किया जाय थोडा है। कोई कोई तर्क कर सकते हैं कि केवल उन्ही समाजों को जीवित रहने का अधिकार है कि जिनके सिद्धांत सर्वोच्च हों। इस युक्ति को अन्त तक फैलाओ तो पृथवी पर बहुत ही थोड़े मनुष्य बचेंगे। इसमे दोष तो यह है कि यह युक्ति सिद्धान्तों की रक्षा करती है मनुष्यों की नहीं। समाज से लाभ यह है कि व्यक्तियों को अपने सुधार का अवसर मिले। उस समाज की रक्षा उस के सिद्धांतों की रक्षा के लिये नही करनी चाहिये वरन् उसके जीवित सदस्यों के लिये करनो चाहिये जिनके लाभ के लिये कि उन सिद्धांतों की रचना हुई है। किसी जाति के उच्च सिद्धातों से उसको संसार की जातियों मे गौरव युक्त स्थान प्राप्त हो सकता है परन्तु उससे उसके स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने के प्राकृतिक अधिकार मे कोई विशेषता नही हो सकती। ऐसे उच्च सिद्धान्तों के कारण वह जाति और अवनति जातियों की सहायता कर सकती है

परन्तु उसको उन्हें दासता में रखने का अधिकार नहीं हो सकता। देश प्रेम उतना ही आवश्यक व न्याययुक्त है जितनी कि आत्म रक्षा है, वरन् उससे भी अधिक है क्योंकि देश प्रेम एक व्यक्ति की ही रक्षा नहीं करता वरन् बहुत से व्यक्तियों की करता है।

ॐ राम

१४–संस्कार व स्वतन्त्रता

यह प्रत्यक्ष है कि आदि तत्व की दशा अथवा मुक्ति को प्राप्त करने के पूर्व जो सस्कार जीवात्मा ने सचय कर लिये हैं वह शांत हो जाने चाहिये। जीवात्मा उस शरीर की ओर आकृष्ट होगी जिस में उसके शारीरिक सगठन व उसकी अन्य सम्पूर्ण परस्थिति के कारण जीवात्मा के सस्कारों को शांत होने का अवसर मिल सकेगा। मनुष्य अपने इस जीवन की अधिकतर दशाओं को पूर्व के जीवनों में ही बना लेता है। यह दशाएं इस प्रकार कहा तक नियमित हो सकती हैं अथवा किन सिद्धान्तों के अनुसार जीवात्मा व शरीर का ससर्ग होता है यह बातें जानने योग्य हों वा न हो परन्तु इसमें कोई सन्देह नही हो सकता कि जीवात्मा व शरीर का सम्बन्ध कुछ न कुछ इसी प्रकार की समानता के अनुसार होगा। अनमेल जीवात्मा व शरीर में अकस्मात् हुआ सम्बन्ध स्थिर रह नही सकता। सम्भव है कि इसी प्रकार अनुसधान करने से समय आने पर यह सम्बन्ध विषयक सिद्धान्त भी ज्ञात हो जाय। और उनमें से कुछ तो अब भी निर्णय किये जा सकते हैं।

हम पहले देख चुके हैं कि जो विचार वा भाव मन में एक वार भी आता है उस को वार वार आने की सम्भावना हो जाती

है। इसी कारण बुरे विचार पहले विचार करने वाले ही कि हानि करते हैं। इसी प्रकार सम्भव हैं कि जो मनुष्य दूसरों को अनेक प्रकार के कष्ट देता है वह उन्ही के समान कष्टों की सामिग्री अपने लिये भी अपनी जीवात्मा मे उत्पन्न कर लेता हो। उस के वर्त्तमान जीवन में भी ऐसा हो सकता है कि यदि उस पापी की कल्पना शक्ति किसी समय अति तीव्र हो जाय तो उसके अत्याचार से पीड़ित व्यक्ति उसके सन्मुख आते और अपना बदला लेते हुए उसको प्रतीत हों। अत्याचार क्रिया में ही भय भी मिश्रित हो सकता है भय से मन की वृत्तियां बाह्य वस्तुओं व विचारों के प्रवेश के लिये खुल जाती हैं, अस्तु उस समय बातें अधिक गहरी अंकित होंगी। अतएव जो मनुष्य दूसरों के दुख देखने मे प्रसन्न होता है वह इसी अकन के द्वारा अपने लिये भी भविष्य में वैसी ही दशा का प्रबन्ध करता है। इस सम्बन्ध में अत्याचार से पीड़ित व्यक्तियों की मानसिक दशा का भी बडा भारी प्रभाव है। उस अकन को सफल करने के लिये जिस स्थिति की आवश्यकता हो उस की पूर्ति उन की बदला लेने की इच्छा से हो सकती है। अकन व इच्छा दोनों का पारस्परिक परिपूरक व्यवहार कभी भविष्य में दोनों मनुष्यों को भिडा सकता है। इस प्रकार असंख्य सम्बन्ध, सकीर्णता व प्रति क्रियाऐं उत्पन्न हो सम्पूर्ण जीवन की साधारण दशाऐं सुगमता से नियत कर सकती हैं।

शरीर व जीवात्मा के ससर्ग के और नियम भी ऊपर कहे हुए नियम में मिश्रित हो सकते हैं। अति तीव्र इच्छाऐं जो इस जीवन में सतुष्ट नही हुई उन की दूसरे जीवन में पूर्ण होने की सम्भावना हो सकती है। यह इच्छा किसी जड़ पदार्थ, अमूर्त्त वस्तु अथवा किसी जीवित मनुष्य के सम्बन्ध में हो

सकती है। पहली दो दशाओं में तो उस इच्छा की गति उस शरीर की ओर ले जायगी जिस में प्रविष्ट होने से वह इच्छा सफल हो सके। यह तो इच्छा की तीव्रता के ऊपर ही अधिक तर निर्भर है। इस के उदाहरण सुन्दर शरीर अथवा सम्पत्ति प्राप्त करने की इच्छायें हैं। तीसरी दशा में उस इच्छा का प्रभाव उस मनुष्य जीवात्मा की दशा की भी अपेक्षा रखता है। यदि उस मनुष्य में भी उस इच्छा के अनुसार कोई प्रति भाव उपस्थित है तो वह इच्छा पूर्ण हो सकती है। और यदि ऐसा नही है तो वह इच्छा अचल प्रतिरोध के विरुद्ध व्यर्थ क्रिया करने में ही शांत हो जायगी अथवा अप्रभावित रह जायगी। इसी प्रकार हम ऊपर देख चुके हैं कि बदला लेने की इच्छा को अकर्म के नियम से सहायता मिलती है। अस्तु अनुचित इच्छाओं की गति नष्ट होने की ओर होती है और उचित इच्छाओं की गति संतुष्टि की ओर होती है।

केवल उन इच्छाओं से ही नहीं जो इस जीवन में पूर्ण न हुई हो वरन् संतुष्ट हुई इच्छाओं से भी आगामी जीवन की दशा नियत हो सकती है। प्रत्येक इच्छा मन की एक क्रिया है और प्रत्येक मानसिक क्रिया के एक बार हो जाने से उसका बार बार प्रकट होना सुगम हो जाता है। चाहे कोई इच्छा पूर्ण हो जाय अथवा असंतुष्ट रह जाय परन्तु भविष्य के लिये वह कुछ न कुछ स्वभाव अथवा संस्कार छोड़ जायगी। यथार्थ में संतुष्ट होने से यह पुनरावृत्ति का स्वभाव संतुष्टि की प्रसन्नता के संयोग से अधिक दृढ़ हो जायगा। जो इच्छाये पूर्ण नही होती वह भी संतुष्ट होने तक स्थित रहने का प्रयत्न करती हैं और यदि नष्ट भी हो जाय तब भी इच्छा करने वाले का परिचय व सम्बन्ध उन विचारों व भावों से करा जाती हैं और यह विचार व भाव मन में किसी न

किसी रूप से फिर उदय हो सकते हैं । इस प्रकार कलुषित इच्छाओं से पापिक स्वभाव और शुद्ध इच्छाओं से पुण्यात्मक स्वभाव बनते हैं। पापी व अपराधी मनुष्य अपने जीवन का अभिमान करे या न करे परन्तु उनका संशयग्रस्त, भयप्रद, सङ्कटमय व अशांत जीवन इच्छा करने योग्य नहीं कहा जा सकता और कोई शांतिप्रिय पुण्यात्मा मनुष्य उन की दशा को ग्रहण करने में सहमत न होगा। इस के अतिरिक्त ऐसे जीवन के जो स्वभाव-शेष अथवा संस्कार होंगे वह भी आगामी जीवन की दशाओं को नियत करेंगे।

हमारे कार्य्यों का हमारे ऊपर ही प्रभाव एक और प्रकार से भी होता है। प्रत्येक क्रिया किसी अतिसूक्ष्म पदार्थ में किसी विशेष प्रकार के कम्पन की लहर उत्पन्न करती है। और यह लहर उस समय तक फैलती जायगी जब तक कि वह किसी में लय न हो जाय अथवा उस का वेग शांत न हो जाय। जो संस्कार हमारे जीवात्मा में एक कार्य्य से उत्पन्न होते हैं वह उस लहर को आकर्षित करेंगे क्योंकि दोनों ही एक क्रिया के परिणाम हैं। इस से वह संस्कार, अच्छा या बुरा जैसा कुछ भी हो, अधिक तीव्र हो जायगा। इस के अतिरिक्त उस लहर का प्रभाव और भी अनेक मनुष्यो पर पड़ेगा और उन में हमारे से समानता उत्पन्न होने से हमारे जीवन के संयोगों की उत्पत्ति होगी। इस प्रकार अच्छे व बुरे कार्य्यों का प्रभाव अपने आप ही बढ़ता रहता है।

यह अनुभव किया जा सकता है कि जीवात्मा में शुद्ध, सुन्दर व कोमल भावों के होने से शरीर की गति भी कोमल व सुकुमारता की ओर हो जाती है, और तामसी मानसिक स्वभावों से शरीर भी कठोर, निकृष्ट व बेढङ्गा हो जाता है। धनवान् मनुष्यों की जीवन चर्य्या ही उनके शरीर को कोमल व सुकु-

मार बनाती है। जिस मनुष्य ने इस जीवन में शुद्ध गुणों को अभ्यास से प्राप्त किया है वह दूसरे जन्म में किसी धनवान् गृहस्थ में सुन्दर कोमल शरीर को प्राप्त करेगा। परन्तु इससे यह परिणाम नहीं निकलता कि सब धनवान् मनुष्य पुण्यात्मा होने चाहियें क्योंकि किसी किसी को वह शांति सुन्दर शरीर या सम्पत्ति अथवा दोनों के प्राप्त करने की तीव्र इच्छा से इच्छा-सतुष्टि के नियम के अनुसार प्राप्त हो सकते हैं। ऐसी दशाओं में यह भी सभव है कि उनकी मानसिक वृत्तिया पूर्णतया अशुद्ध हों अथवा उनके शरीर निकृष्ट व बेढंगे हो। और बातों में भी उनका जीवन अशात हो सकता है। अपने पूर्व सस्कारों से उन के अनेक शत्रु हो सकते हैं। अथवा उन में धन के मद से अकर्मण्यता हो सकती है। सम्भव है कि पूर्व जन्म में उन के पापिक स्वभावों की इतनी अधिक वृद्धि हो गई हो कि अब धन की सहायता से उनको उनके प्रयोग में पूर्व जन्म की अपेक्षा और अधिक सुविधा व अवसर मिले। समानता के नियम में और नियमों के विघ्न करने से यह परिणाम निकल सकते हैं। इसी सिद्धांत के अनुसार पापिक स्वभाव वाले जीवात्मा को नीच व निर्धन गृहस्थों में जन्म लेना चाहिये। यह सत्य है कि बहुधा धनवान् मनुष्य आलसी, अहकारी, स्वार्थी व अत्याचारी होते हैं परन्तु यह स्वभाव उनके पूर्व जीवन के फल हो सकते हैं जैसा कि ऊपर देख चुके हैं। या वह इस जीवन के धन के मद के प्रभाव हो सकते हैं। नहीं तो साधारणतया धनवान् मनुष्य ज्ञानोन्नति के सवर्द्धक होते हैं और सभ्यता की उन्नति पर उन का असीम प्रभाव होता है। वह दयावान् व दानशील होते हैं। दूसरी ओर निर्धन मनुष्य भी बहुधा विनय शील, सत्कार शील, दयावान् व सत्यवादी होते हैं। यह उनके इस जीवन की दशा व

सगति के कारण हो सकता है और उसका यह भी कारण हो सकता है कि साधारण जनता की मानसिक दशाओं में केवल साधारण परिवर्तन होते हैं। इन साधारण सीमाओं के अन्तर्गत असख्य दर्जों की पापिकता, शुद्धता, इच्छाएँ, सुकुमारता, अकन व भाव उपस्थित होते हैं। पक्के पापी धनवानों अथवा मध्य श्रेणी के मनुष्यों में अधिक नही होते। पापिक स्वभाव वाली समाज श्रेणी भी साधारणतया धनवान् नही होती। निर्धनता का कारण पूर्व जन्म का अत्यन्त लोभ भी हो सकता है जब कि सम्पत्ति के प्राप्त होते हुए भी जीवन चर्य्या निर्धनों की सी रखी थी। मानसिक अस्थिरता से शारीरिक अस्थिरता भी उत्पन्न हो जाती है। ऐसा मनुष्य मद्यपानी बनकर उसके सम्पूर्ण मानसिक व शारीरिक परिणामों को सहन कर सकता है।

यह भी सम्भव है कि मानसिक दोषों का विशेष शारीरिक रोगों से सम्बन्ध हो। इस प्रकार ईर्ष्या के स्वभाव से आगामी शरीर कड़ु रोग से ग्रस्त हो सकता है। ऐसा ही परिणाम अकन के नियम के अनुसार भी हो सकता है। दूसरे को अग भग करने वाला आगामी जीवन में कोढी हो सकता है मनुष्य की जीवात्मा का स्वरूप अधिक कठोर व जडवत् हो जाने से पशुओं के जीवात्मा के समान हो सकता है और अपने प्रधान मानसिक स्वभाव के अनुसार पशु शरीर ग्रहण कर सकता है। जैसे कि भयकर व निर्दयी स्वभाव वाला भेडिया हो सकता है। परन्तु ऐसा बहुत ही कम होता है क्योंकि साधारणतया तो मनुष्य जाति में ही असख्य प्रकार के सस्कारों के लिये अवकाश है।

न गुण व दोषों का विवरण और न जीवात्मा व शरीर के ससर्ग के नियमों का निरूपण पूर्ण कहा जा सकता है। इस विचार से धर्म क्षेत्र का अन्वेषण ही नही किया गया अस्तु इस

पद्धति के अनुसार अनुसन्धान करने के लिये तो अभी अति विस्तृत अवकाश है। परन्तु जो कुछ कहा जा चुका है वह यह दिखाने के लिये तो पर्याप्त है कि स्वर्ग व नरक दोनों पृथ्वी पर ही हैं और अपने ही बनाये होते हैं। जब ससार में असह्य कष्टों की ओर दृष्टि करते हैं तो ज्ञात होता है कि कोई ऐसा अपराध या पाप नही कि जिसका यथोचित दड सासारिक कष्टों से न हो सकता हो। कल्पित सुखों व कष्टों के आविष्कार करने की आवश्यकता ही नही रहती। अगणित अत्यत कष्टदायी रोग, निर्धनता की असह्य वेदनाएँ, पापियो का निकृष्ट, अपवित्र, सशयग्रस्त, क्षोभपूर्ण और कष्टमय जीवन बडे से बडे दड हैं। वह कौन सा पाप है कि जिसका उचित दड कोई कष्टपूर्ण रोग नही हो सकता? परन्तु यह दड कोई सर्वोच्च न्यायाधीश नही देता। यह तो आध्यात्मिक प्रकृति में सस्कारों के शुद्ध व पूर्ण अकित होने का परिणाम है। आध्यात्मिक गुणों के अभ्यास व आध्यात्मिक साधनों द्वारा कैसी आध्यात्मिक उन्नति, स्वर्गीय अनुभव, अद्भुत आध्यात्मिक शक्तिया, आनन्द पूर्ण व शाति मय जीवन प्राप्त होता है। इससे अधिक सुख व पुरस्कार क्या हो सकता है? क्या कल्पित स्वर्ग और नरक में आध्यात्मिक अनुज्ञा के इन परितोषो व दडों से भी अधिक अन्तर हो सकता है?

परन्तु इन सिद्धातों मे स्वतत्रता ने कौन सा स्थान पाया? अब यह दिखाया जायगा कि पूर्व कर्मो से इस जीवन की दशाओं के इतने नियत हो जाने पर भी मनुष्य की स्वतत्रता में कोई भेद नही आता। प्रत्येक कर्म का प्राकृतिक प्रभाव अवश्य होगा। जब कोई मनुष्य इच्छानुसार कार्य्य करने में सफल नहीं होता तब भी उसकी इच्छाओं का बल व्यर्थ नष्ट नही हो जाता। किसी विशेष स्थिति में मनुष्य के प्रयत्न की अपेक्षा उसके सस्कार अधिक बल-

वान् हो सकते हैं परन्तु उसके वर्त्तमान काल के कार्य्यों के गुण व तीव्रता के अनुसार भविष्य के लिये तो सस्कार वनेंगे ही। पूर्व जन्म के सस्कारों के निरोध के लिये उसकी स्वतंत्र इच्छा का वल पर्याप्त न हो परन्तु भविष्य के लिये संस्कार वनाने में उस की स्वतन्त्र इच्छा अवश्य परम प्रभाव शाली है। वह अपने कार्य्यों के लिये उत्तर दाता होगा और जैसा करेगा वैसा ही भरेगा। यह सत्य है कि पूर्व सस्कारों से केवल जीवन के सयोग ही नही वनते वरन् उसकी मानसिक वृत्तिया भी वतनी हैं। परतु जो कार्य्य इन वृत्तियों का परिणाम हो उसका कारण उस मनुष्य के अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं हो सकता। और जहा तक उस के ऊपर इस जीवन के सयोगों का प्रभाव पडा है उस का भी उत्तर दाता वही है क्योकि यह सयोग उसके पूर्व सस्कारो से प्रकट हुए हैं। इस जीवन में भी उसको सव प्रकार के अवसर उपस्थित हैं। यदि फिर भी वह अपने सुधार में असावधानी करता है तो यह उसी का दोप है। सचेत हो कर अपना सुधार करना असम्भव नहीं है यह इसी वात से प्रत्यक्ष है कि चारों ओर मनुष्य अपना सुधार करते दीख पडते हैं। यह सव जानते हैं कि पुण्यात्मक होना शुभ है। यदि कोई पुण्यो के सम्वन्ध में अनुसधान नही करता, पुण्यात्माओं का सग नहीं करता, गुणों का अभ्यास नही करता वरन् अपने पापिक स्वभावों को वे रोक टोक कार्य्य करने देता है तो वह उनको तीव्र होने से नही वचा सकता। यह तो प्राकृतिक क्रम के अनुसार होगा ही। हम पहले देख चुके हैं कि कभी कभी ऐसा होता है कि हम अपनी किसी इच्छा के विरुद्ध अपनी पूर्ण शक्ति का प्रयोग करते हैं। अपने स्वभावों के विरुद्ध कार्य्य करने की स्वतत्र शक्ति का यही प्रमाण है। कभी कभी ऐसा होता है कि वह स्वभाव हमारे प्रयत्न से

अधिक बली हों। जैसा कि उस समय होता है जब कि किसी शारीरिक इच्छा के अनुसार कोई प्रतिभाव आध्यात्मिक मन में भी उपस्थित हो। ऐसी दशा में यद्यपि हम उस समय अपने प्रयत्न में सफल नहीं होते परन्तु उस प्रयत्न से भविष्य में सफलता प्राप्त होने की सम्भावना बढ जायगी क्योंकि उससे वह स्वभाव निर्बल हो जायगा और उसका प्रतिरोधी स्वभाव प्रबल हो जायगा। अस्तु सब दशाओं में स्वतत्र इच्छा के प्रयोग के लिये पूर्ण अवसर होता है और इस से सस्कारो के सिद्धात में भी कोई भेद नही पडता। उन मनुष्यों के लिये कि जिनमें गुणों के समझने की बुद्धि व इच्छा मात्र भी नही है उनके लिये धर्म व नीत की पद्धति दीपग्रह के सकेत के समान हैं। यदि वह उन सकेतों की अवज्ञा करते हैं तो उस के परिणामों को वह अपने ही दोष के कारण सहन भी करेंगे।

लग भग सभी गुण व दोषो के भेद को जानते हैं परन्तु पापी मनुष्य अन्तिम सुख की अपेक्षा तत्काल सुख का आदर करता है और पुण्यात्मा पवित्रता व अन्तिम शाति को क्षणिक सुखों से अच्छा समझता है। प्रत्येक बडे कार्य्य में पापी भी उस के नीच ऊच सब को सोच लेता है। वह युक्तिमय तर्क से निश्चय करता है और फिर उसके अनुसार कार्य्य करता है। परन्तु पुण्यात्मा होने का प्रयत्न नही करता। यदि कोई मनुष्य ऐसे विचार युक्त इच्छा पूर्वक किये हुए कर्म्म के लिये भी उत्तरदायी नही हो सकता तो फिर उत्तरदायित्व कहते ही किस को हैं! यदि ऐसे विचार पूर्ण कार्य्य में भी कोई मनुष्य गुणो की ओर से असावधान रहे तो कौन सा आश्चर्य्य है कि उस के साधारण कर्म्म भी गुणो से रहित हों, और वह दोनो ही के उत्तरदायित्व से नही बच सकता। यदि उस के सिद्धातो पर उस के कुसग

का प्रभाव है तो उचित है कि वह उस कुसग को छोड़ दे । जब वह किसी अपराध के करने में तर्क व विचार कर सकता है तो अपने सुधार के लिये भी कर सकता है । जैसा कि कहा जा चुका है धर्म, नीति व महान् पुरुषो के जीवन दीपग्रहो के समान हैं । परन्तु वह उन को देखते हुए भी अपनी गति को बदलने का प्रयत्न नही करता । वरन् यदि कोई सत् पुरुष उसके कल्याण के लिये उसे कुछ उपदेश भी करता है तो बहुत सम्भव है कि उस का परिणाम केवल कटाक्ष पूर्ण प्रत्युत्तर ही हो । फिर भला वह स्वकृत असावधानी के परिणामों का दु:ख कैसे न सहे ।

फिर सस्कार भी ऐसे अटल नही होते । वह भी शक्तियां हैं जो विरोधी शक्तियों से रोकी जा सकती हैं । उन दोनों शक्तियों की तीव्रता में सग्राम होगा अतएव सफल होने के लिये जहा हम ने थोडे से बल का और प्रयोग किया और हमारी इच्छा पूर्ण हुई । यदि हम इस में सफल न भी हों तो भी उस प्रयत्न से हमारे पूर्व सस्कार का बल कम हो जायगा और एक नवीन सस्कार उत्पन्न हो जायगा जिससे कि हमारी इन्द्रिय निग्रह की शक्ति बढ जायगी । जब कोई घटना हो जाती है तो बहुत से लोग कहते हैं कि भावी ऐसी ही थी । परन्तु इस से यह सिद्ध नहीं होता कि थोडे और प्रयत्न करने से उस कार्य्य मे परिवर्त्तन नही हो सकता था । मनुष्य के पूर्व सस्कारों से उस के जन्म की व शरीर की परिस्थित दशाएँ नियत हो सकती हैं । परन्तु कर्म्मो के सूक्ष्म अशों मे उस को पूर्ण स्वतत्रता है और सुधार का द्वार उस के लिये सदैव खुला है । कदाचित् यही कारण है कि भविष्य वाचक ज्योतिषी लोग मुख्य मुख्य भविष्यों को ही बता सकते हैं क्योंकि उनके उत्पादक संस्कार विशेष बलवान् होते हैं । इसी कारण से जातीय भविष्य व्यक्ति गत भविष्य की अपेक्षा अधिक सुगमता

से निश्चय किया जा सकता है। क्योंकि बहुत से मनुष्यों के
सयुक्त सस्कार का प्रतिविव एक व्यक्ति के सस्कार के प्रति-
विव की अपेक्षा आध्यात्मिक दृष्टि वालों के लिये अधिक स्पष्ट
होता है। उन दशाओं में भी जिन में कि किसी कार्य्य का होना
पूर्णतया निश्चित हो सत्य से प्रेरित प्रयत्न व्यर्थ नही हो सकता
क्योकि उस प्रयत्न से ही एक नवीन शुभ सस्कार उत्पन्न हो
जायगा। जातीय समस्याओं में भी धर्मयुक्त जातीय प्रयत्न से
जाति का धर्म वल भविष्य के लिये वढ जायगा चाहे वह प्रयत्न
वर्त्तमान में सफल हो वा न हो।

इस के अतिरिक्त सब भविष्य वाणी भी सत्य नही होती और
न सब मनुष्य भविष्य को जान ही सकते हैं। भविष्य में जो कुछ
भी हमारे लिये सचित हो वर्त्तमान में तो हमारा धर्म प्रत्यक्ष है।
गुणो की सीमाओं के अन्तरगत हम अपनी रुचि के। स्वतत्रता दे
सकते हैं परन्तु जिन सस्कारों के प्रभाव को हम जानते भी नहीं
उन स स्कारों के झूठे वहाने से हम को उनसीमाओं का उल्लघन
नही करना चाहिये।

ॐ राम

१५—शुद्धि

यह विचार हो सकता है कि ऐसे आध्यात्मिक धर्म के अनु-
सार आचरण करना सहज नही है। किन्तु यथार्थ में यह ऐसा
सुगम है कि इसमें सव दर्जों का अभ्यास व सुधार सम्भव है।
गुण सव सात्विक है। उनमें प्रत्येक के अभ्यास से सात्विक दशा
की प्राप्ति होगी। और सात्विक दशा की ओर उन्नति होने में
और सव गुण भी शनै शनै प्राप्त हो जायगे। जीवात्मा की

का प्रभाव है तो उचित है कि वह उस कुसंग को छोड दे। जब वह किसी अपराध के करने मे तर्क व विचार कर सकता है तो अपने सुधार के लिये भी कर सकता है। जैसा कि कहा जा चुका है धर्म, नीति व महान् पुरुषों के जीवन दीपग्रहो के समान हैं। परन्तु वह उन को देखते हुए भी अपनी गति को बदलने का प्रयत्न नही करता। वरन् यदि कोई सत् पुरुष उसके कल्याण के लिये उसे कुछ उपदेश भी करता है तो बहुत सम्भव है कि उस का परिणाम केवल कटाक्ष पूर्ण प्रत्युत्तर ही हो। फिर भला वह स्वकृत असावधानी के परिणामो का दुःख कैसे न सहे।

फिर सस्कार भी ऐसे अटल नही होते। वह भी शक्तियां हैं जो विरोधी शक्तियों से रोकी जा सकती हैं। उन दोनों शक्तियों की तीव्रता में संग्राम होगा अतएव सफल होने के लिये जहा हम ने थोडे से बल का और प्रयोग किया और हमारी इच्छा पूर्ण हुई। यदि हम इस मे सफल न भी हों तो भी उस प्रयत्न से हमारे पूर्व संस्कार का बल कम हो जायगा और एक नवीन सस्कार उत्पन्न हो जायगा जिससे कि हमारी इन्द्रिय निग्रह की शक्ति बढ जायगी। जब कोई घटना हो जाती है तो बहुत से लोग कहते हैं कि भावी ऐसी ही थी। परन्तु इस से यह सिद्ध नहीं होता कि थोडे और प्रयत्न करने से उस कार्य्य मे परिवर्त्तन नही हो सकता था। मनुष्य के पूर्व स स्कारों से उस के जन्म की व शरीर की परिस्थित दशाएँ नियत हो सकती हैं। परन्तु कर्म्मो के सूक्ष्म अशों में उस को पूर्ण स्वतन्त्रता है और सुधार का द्वार उस के लिये सदैव खुला है। कदाचित् यही कारण है कि भविष्य वाचक ज्योतिषी लोग मुख्य मुख्य भविष्यों को ही बता सकते हैं क्योंकि उनके उत्पादक सस्कार विशेष बलवान् होते हैं। इसी कारण से जातीय भविष्य व्यक्ति गत भविष्य की अपेक्षा अधिक सुगमता

से निश्चय किया जा सकता है। क्योंकि बहुत से मनुष्यों के सयुक्त सस्कार का प्रतिबिंव एक व्यक्ति के सस्कार के प्रतिबिंव की अपेक्षा आध्यात्मिक दृष्टि वालों के लिये अधिक स्पष्ट होता है। उन दशाओं में भी जिन में कि किसी कार्य्य का होना पूर्णतया निश्चित हो सत्य से प्रेरित प्रयत्न व्यर्थ नहीं हो सकता क्योंकि उस प्रयत्न से ही एक नवीन शुभ सस्कार उत्पन्न हो जायगा। जातीय समस्याओं में भी धर्मयुक्त जातीय प्रयत्न से जाति का धर्म बल भविष्य के लिये बढ जायगा चाहे वह प्रयत्न वर्त्तमान में सफल हो वा न हो।

इस के अतिरिक्त सब भविष्य वाणी भी सत्य नही होती और न सब मनुष्य भविष्य को जान ही सकते हैं। भविष्य में जो कुछ भी हमारे लिये सचित हो वर्त्तमान में तो हमारा धर्म प्रत्यक्ष है। गुणों की सीमाओं के अन्तरगत हम अपनी रुचि के। स्वतत्रता दे सकते हैं परन्तु जिन सस्कारों के प्रभाव को हम जानते भी नहीं उन सस्कारों के झूठे बहाने से हम को उनसीमाओं को उल्लघन नहीं करना चाहिये।

ॐ राम

१५–शुद्धि

यह विचार हो सकता है कि ऐसे आध्यात्मिक धर्म के अनुसार आचरण करना सहज नहीं है। किन्तु यथार्थ में यह ऐसा सुगम है कि इसमें सब दर्जों का अभ्यास व सुधार सम्भव है। गुण सब सात्विक है। उनमें प्रत्येक के अभ्यास से सात्विक दशा की प्राप्ति होगी। और सात्विक दशा की ओर उन्नति होने में और सब गुण भी शनै शनै प्राप्त हो जायगे। जीवात्मा की

सात्विक दशा और इन गुणों मे स्वाभाविक सबन्ध होने के कारण इन दोनों में से एक की उपस्थिति मे दूसरे की उपस्थिति भी होगी। हम को उचित है कि जितने गुणों का अभ्यास हम से सम्भव हो करें और यह विश्वास रखें कि दूसरे गुण भी समय पाकर हमें प्राप्त हो जायगे। यही दशा अवगुणो की भी है। उन से तामसी दशा प्रकट होती है और तामसी दशा से वह उत्पन्न हो जाते हैं। प्रलोभनों से जहां तक सम्भव हो सचेत रहना चाहिये। सहायक गुण इस सचेत रहने मे हमारी सहायता करेंगे। यदि हम अपनी सहायता करें स्वय तो प्रकृति भी हमारी सहायता करेगी। सत्मार्ग में एक पद भी हमारी आगे वढने की शक्ति की वृद्धि करेगा। अपने ही कल्याण के लिये हम को दोषों का त्याग और गुणो को ग्रहण करना चाहिये।

हमारी आध्यात्मिक शक्ति की अवगुण हानि करते हैं। हमारे अशुभ सस्कार हमको अनेक दुख व कष्ट मय जीवनों को प्राप्त कराते हैं। इनके अतिरिक्त एक और भी कारण है कि जिससे हमको अपने ही कल्याण के लिये अपनी शुद्धि करनी चाहिये। हम देख चुके हैं कि हमारी मानसिक गति के कारण हम को अनेक स्थूल शरीर धारण करने पडते हैं। हमारा सम्वन्ध समाज से इस जीवन के साथ ही नही टूट जाता। अतएव हमें उचित है कि हम समाज को अव की अपेक्षा अधिक शांति मय व शुद्ध बनाने का प्रयत्न करें जिससे जव हम फिर शरीर धारण करें तो अधिक सुख से रह सकें। सम्भव है कि हम उसी समाज में फिर न लौटें परन्तु यदि इसी कारण सव कोई अपने आचरण मे असावधान हो जाय तो फिर हमको किसी समाज में भी शान्तिमय जीवन न मिलेगा। हमें अपना धर्म पालन करना चाहिये और आशा करनी चाहिये कि और लोग भी ऐसा ही करेंगे। यदि हम

अपना धर्म पालन नहीं करते तो दूसरो की असावधानी का दु ख
करने का हमको कोई अधिकार नही है। अस्तु सब समाजो की
शुद्धि होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त हमें यह भी स्मरण रखना
चाहिये कि अवगुणो के अभ्यास से हम दूसरे जीवन को पुण्या-
त्मक समाज मे नही प्राप्त कर सकते। इस कारण उचित है कि
हम अपने को पवित्र, आनन्द मय और शाति पूर्ण समाज के
योग्य बनावें। ऐसा करने से हम अपने ही भविष्य जीवन को
उत्तम नहीं बनावेंगे वरन् अपनी समाज की शुद्धि मे भी सहायता
करेंगे। इससे हम अपनी समाज को शुद्ध जीवात्माओं के जन्म
के योग्य बनाने में सहायता करेंगे और जब फिर उसी समाज में
लौट कर आवेंगे तो उत्तम सत्सग प्राप्त करेंगे। जो अत्याचार
से पीडित हों उनको अपनी शुद्धि की चिन्ता ।करनी चाहिये क्यों-
कि तब ही "दिव्य रक्षक" के प्रादुर्भाव के लिये उचित दशाएँ
उपस्थित होंगी और उन्हें "उन" के दर्शन का अधिकार होगा।
हमें अपनी जीवात्मा को अपराधियो के शरीर के योग्य नहीं
होने देना चाहिये। न तो अपराधी का जीवन ही आनन्दमय है
और न उसका परिणाम ही शुभ है। अस्तु हमे समाज को शुद्ध
जीवात्माओं के जन्म के योग्य बनाने में सहायता करनी चाहिये
और ऐसा करने में हम अपने भविष्य को भी सुधार लेंगे।

जो पापों में डूबे हुए हैं वह भी अपनी शुद्धि कर सकते हैं।
यह सत्य है कि उनके मानसिक स्वभाव बली हो गये हैं और उन
पर स्वत्व प्राप्त करना कठिन है परन्तु उनकी उन्नति में सहायता
के लिये भी साधन हैं। परम आवश्यक तो सुधार का दृढ विचार
है। यदि गुणों की ओर वह एक बार भी दृष्टिपात करें, यदि वह
सत्मार्ग में एक पद भी चलें तो मानसिक भावों पर स्वत्व प्राप्त
करना इतना कठिन नही रहता जितना प्रतीत होता है। उपवास

के सिद्धात में भी एक वडा भारी रहस्य है। कोई कोई इसका उपहास कर सकते हैं। परन्तु यह केवल कथन मात्र नही है वरन् अनुभव किया जा सकता है। यदि तर्क से सन्तोष न हो अनुभव से अवश्य हो जायगा। हम देख चुके हैं कि भोजन पदार्थ सात्विक, राजसी व तामसी होते हैं। उनके मानसिक प्रभाव भी सहज ही में समझ में आते हैं। मसालेदार स्वादिष्ट पदार्थों से इच्छाएँ अधिक तीव्र होंगी। बासे पदार्थों से मन व शरीर में आलस्य उत्पन्न होता हे। परन्तु किसानो के समान साधारण नवीन पदार्थ व फलों से न तो इच्छाएँ ही तीव्र होंगी और न मन ही आलसी होगा वरन् उनसे मन शीतल, सचेत व शात रहेगा। इसका कारण यह है कि भोजन से शारीरिक सयुक्त भाव पर प्रभाव पडता हे। यदि शारीरिक मन शुद्ध रहता है तो शारीरिक इच्छाएँ अधिक प्रवल नही होती और आध्यात्मिक मन की शक्तिया अधिक अन्तरमुखी होती है और बुद्धि अधिक निर्मत्य व सूक्ष्म होती है। उस समय जो कार्य्य किये हों अथवा जिनके करने का विचार हो वह विवेक की कसोटी पर कसे जा सकते हैं। तव आध्यात्मिक मन प्रत्येक वस्तु के यथावत् रूप को निर्मल दृष्टि से देखता है क्योंकि उस समय वह शारीरिक इच्छाओं की प्रवल व विचार शून्य उत्तेजना से आवृत नही होता। वस यह उपवास का रहस्य है। वह शारीरिक मन की गति को निर्वल और आध्यात्मिक मन की वुद्धि को तीव्र कर देता है। इस साधन के प्रत्येक अभ्यास से यह प्रभाव बढ़ता जाता है। विवेक की शक्ति वढती जाती है और शारीरिक इच्छाओं का वल व तीव्रता घटती जाती है।

उपवास का प्रभाव उस समय कई गुणा हो जाता है जब उस के साथ प्रार्थना, उपासना व स्वाध्याय भी हों। प्रार्थना से

मन का भार सा उतर जाता है और इस से उसे विश्राम प्राप्त होता है। गुणो और शुद्धता की वृद्धि से आध्यात्मिक शक्ति के वढने के कारण वाह्य परिस्थिति पर भी प्रभाव पडता है। और यदि इस शक्ति की वृद्धि अधिक हो जावे तो इससे हम दयावान् व शक्तिशाली जीवात्माओं को भी आकर्पित करके आध्यात्मिक सहायता प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु कम से कम यह मन के भार को उतार कर उस को शुद्ध व सरल करने में तो अवश्य ही सहायता करती है। जिस समय शारीरिक मन वाधा न करता हो उस समय इस साधन से आध्यात्मिक मन को अपनी शुद्धि में सहायता मिलती है क्योंकि इससे वुद्धि व विवेक शुद्ध व पुण्यात्मक प्रसगो में लीन रहता है। इस से जीवात्मा की दशा सात्विकता की ओर वढेगी और उस दशा के स्वाभाविक गुण उदय होंगे। और जव गुणो का विकाश हो जायगा तव इस साधन से वह स्थिर व दृढ हो जायगे। इस प्रकार एक पापी भी अपने स्वभाव को सुधार सकता है। उपवास से शरीर की भी शुद्धि होगी और उस की दशा भी सात्विक हो जायगी। इस शारीरिक प्रभाव से भी आध्यात्मिक साधन में और अधिक सहायता मिलेगी। उपवास का समय व सख्या करने वाले की आवश्यकता व सहन शक्ति के अनुसार होनी चाहये। जव कोई मनुष्य उपवास न भी करता हो तव भी वह सात्विक भोजन करने व नित्य प्रत प्रार्थना, उपासना व स्वाध्याय कर के अपनी आध्यात्मक उन्नति की वृद्धि कर सकता है। सात्विक भोजन वह है जो शारीरिक इच्छाओं को उत्तेजित न करे, मद उत्पन्न न करे, स्वाद अथवा रसनेन्द्रिय को प्रवल न करे, दूसरे को कष्ट न दे, धर्मपूर्वक प्राप्त कया हुआ हो और शरीर को स्वस्थ व कार्य्योपयुक्त रखे। ऐसा भोजन प्राकृतिक दोषो से रहित होगा और उस में किसी

दूसरे के कष्ट से उत्पन्न संस्कार भी मिश्रित न होंगे। ऐसे भोजन से शुद्धि में सहायता मिलेगी और भविष्य के लिये अशुद्ध संस्कार नहीं बनेंगे। जो सब बातों का ध्यान न रख सके वह जितना कर सके उतना करे। सत्‌मार्ग में उसका प्रत्येक कर्म भविष्य के लिये उसके गुणों को प्रबल करेगा। छोटी छोटी बातो से ही बडी बडी बातें प्रकट हो जाती हैं। परन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि उपवास इतना नही करना चाहिये कि जिससे शरीर निर्बल हो जाय। हम देख चुके हैं कि शरीर की स्वस्थावस्था आध्यात्मिक उन्नति के लिये भी आवश्यक है। सांसारिक धर्मों के लिये शरीर को उचित दशा में रखते हुए शुद्धि के साधन करते रहना चाहिये।

ऐसी धर्म पद्धत्ति किसी विशेष मत की सम्पति नही है। यह किसी विशेष अवतार व पैग़म्बर के कथनों पर निर्भर नहीं है। इसमें केवल विवेक का ही अधिकार स्वीकृत है और विवेक पर मनुष्य मात्र का अधिकार है। आदि तत्व सम्पूर्ण मनुष्य जाति, पशु, वनस्पति व जड पदार्थ सब का आत्मा है। ऐसे आदि तत्व के नित्यगुणों के आधार पर स्थित धर्म पद्धति जाति, मत अथवा पहाड़ वा समुद्रों से सीमा बद्ध नहीं हो सकती। मनुष्य जाति का तत्व तो एक ही है। जाति व मत के भेद से उस तत्व में भेद नहीं हो सकता। उसके गुण तो सब स्थानों पर समान ही रहेंगे। एक ही गुण व दोष का आध्यात्मिक प्रभाव देश, काल, जाति व मत के विचार से भिन्न भिन्न नही हो सकता। उनको चाहे कोई माने अथवा न माने परन्तु परिणाम तो एक ही होगा क्योंकि किसी के मानने या न मानने से प्राकृतिक नियमों में भेद नहीं पड़ता। यह सिद्धांत सब मतों के लिये समान है। इस विवेक युक्त सत धर्म में सब मत वालों का समान अधिकार है इसकी स्वीकृत

से किसी भी मत का अपमान नहीं होता। यह तो मनुष्य मात्र का स्वाभाविक अधिकार है। अब मनुष्य जाति अपने अधिकार को ग्रहण करे।

फिर यह धर्म पद्धति है भी क्या? आदि तत्व सम्बन्धी सिद्धांत दार्शनिक है अस्तु इसपर पक्षपात का कटाक्ष नहीं हो सकता। रही गुणों की बात सो अब भी कोई मत गुणों को दोष नहीं कहेगा। भेद इतना ही है कि इन गुणों के मन माने निरूपण के स्थान पर अब उनका आधार नित्य व अचल आदि तत्व है। हमें अपनी प्रथाओं को भी इन नित्य सिद्धातो के अनुसार संशोधन करने में कोई कठिनता नहीं होनी चाहिये। हम अपने जीवन के सुधार के लिये राजनैतिक व सामाजिक परिवर्तन करते हैं। राजनैतिक व सामाजिक संस्थाओं के सुधार के लिये नवीन अनुभव व ज्ञान से हम सहायता लेने में नही हिचकते। यही बात हम धर्म में क्यो नहीं करते? धर्म के बाल्य अवस्था में जब युक्ति युक्त धर्म समझ में नहीं आ सकता था श्रद्धा उत्पन्न करने के लिये चमत्कारों की आवश्यकता थी। ऐसे समय पर दार्शनिक धर्म का प्रयोजन नहीं था। उस समय मनुष्य एक चैतन्य, पूर्ण, सर्व शक्तिमान दण्ड व पुरस्कार देने वाले की आज्ञा तो पालन कर सकते थे परन्तु उनके कर्मो के आध्यात्मिक प्रभावो के सम्बन्ध में तर्क से सिद्धि सिद्धातो के लिये बहरे हो जाते। परन्तु हम अब उस अवस्था में नहीं है। संसार तर्क सिद्ध सिद्धातो के लिये रोता है। अब तो सब बातें प्रमाणित व युक्ति पूर्ण होनी चाहियें। तो क्या धर्म अब भी कल्पित ही रहना चाहिये? क्या हम उन पूजनीय पैगम्बरो व अवतारो का, जिन्होंने अपने समय में मनुष्यों को वही दिया जिसकी उनको आवश्यकता थी और जिसको वह पचा सकते थे, अपमान नहीं करते जब हम यह कहते हैं कि जो

भोजन उन्होंने बाल्यावस्था के लिये नियत किया था वही युवावस्था के लिये भी उपयुक्त है ? वह स्वयं तो अविवेकी नहीं थे और वह एक विवेक युक्त सत् धर्म का कभी निरादर न करते। तो फिर वह मनुष्य जो उनका आदर करते हैं व उनके अनुयायी हैं क्यों उसका रिादर करें ? हम अपनी विशेष प्रथाओं को जहां तक वह आध्यात्मिक सिद्धातों के विरुद्ध न हों रख सकते है। परन्तु ऐसे भेद से विवेकानुसार अथवा धर्मानुसार कोई भेद नही हो सकता। हम अपने अपने विशेष सन्तों, पैगम्बरो व अवतारों की उपासना कर सकते है परन्तु हमें यह समझ लेना चाहिये कि तत्व विचार से वह सब एक ही है। उसी एक आदि आध्यात्मिक तत्व के अंश हैं। वास्तव में हम सब ही क्यों न ऐसे सब महान पुरुषों का आदर करें चाहे वह किसी देश के भी हों। महानता का आदर तो अधिकार है। धर्म के पवित्र नाम पर युद्ध, झगड़ा व मत्सरता आदि की कालिमा अब न लगने देना चाहिये। धर्मनिष्ठ मनुष्य कट्टर नही होता वरन् सत्यवादी, कोमल, दयावान, विनीत, प्रसन्नचित्त, शान्त और निश्चल बुद्धि वाला होता है उसके चारो ओर कल्याण ही कल्याण बहता है।

ॐ राम

१६—दैविक प्रेम।

हम सब जानते हैं कि हमारा सांसारिक प्रेम किस प्रकार हमारे जीवन के चक्रों की धुरी के समान होता है। इससे हम एक ध्येय में बधे रहते हैं और उससे इधर उधर दूर भटकने नहीं पाते। इससे हमको अपने ऊपर स्वत्व प्राप्त करने में सहायता मिलती है। यह और सब भावों को बाहर ही रख कर चित्त को शुद्ध

करता है। फिर भी इसमें विघ्न हो सकते हैं। हमारा प्रेमी ही हमसे प्रेम न करे। अनेक प्रकार के झगडे, मत्सरता तथा भ्रम उपस्थित हो सकते हैं। इन सब त्रुटियों के होते हुए भी ससार की शुद्धि, आध्यात्मिक उन्नति व स्थिरता के लिये प्रेम कैसी प्रभाव शाली वस्तु है ! यदि कोई वस्तु नरक को भी सच्चा स्वर्ग बना सकती है तो वह प्रेम है। प्रेमधैर्य्य दिलाता है। प्रेम स्थिर रखता है। प्रेम प्रफुल्लिता करता है और प्रेम आनन्द में मगन करता है। पक्का पापी भी कैसी प्रेम दृष्टि से अपने बालक की ओर देखता है !

फिर भला दैविक प्रेम तो कैसी उत्कृष्ट वस्तु होगी ! उसमें न झगडे है न भ्रम है न मत्सर है न विघ्न, केवल एक निरंतर स्रोत है अद्भुत आनन्द का ! वह अद्भुत है, परमानन्द है, अकथनीय है ! धैर्य्य देने को, प्रफुल्लित करने को, स्थिर रखने को, और दिव्य दर्शन के दिव्यानन्द के आकाशवत् उच्च शिखर पर उड़ा ले जाने को वह सदैव निकट है। अन्तरीय स्रोत से उमड़ते हुए उन आनन्द मय अश्रुओं की धाराई में कौन सी अपवित्रता ठहर सकती है ! उनसे पवित्रहुए विवेक के नेत्रों को फिर कौन वस्तु आवृतकर सकती है। उस पवित्र अति कोमल, अति विनीत जीवात्मा की असीम शक्ति के सन्मुख कौन वस्तु ठहर सकती है ! हमें भी अनुभव हो, उस के एक कण का ही हो, तो बस हम कृतार्थ हुए।

इसमें आश्चर्य्य भी क्या है ? हम किसी मनुष्य से प्रेम करते हैं, क्योंकि हम उसकी सुन्दरता पर मुग्ध हैं। उसकी सरलता शांति प्रद है। उसकी सुन्दरता अति मोहिनी है। उसमें अद्भुत दया, कृपा तथा सङ्कोच है। परन्तु उस महान् जीवात्मा केसमान, जिसने हमारे लिये मुक्ति का भी निरादर कर दिया, दया, कृपा, सङ्कोच, क्षमा से पूर्ण अत्यन्त शक्ति शाली परन्तु असीम प्रेम से कोमल मनुष्य हमको कहा मिलेगा ? वह अपने जीवात्मा स्वरूप

को केवल धर्म के स्थापन व अधर्म के नाश के लिये स्थित रखते हैं। कैसा बुद्धिमान संसार है जो उनका चिन्तन नहीं करता! छोटी सी बात के लिये हम मनुष्य के चरणों पर गिर जायंगे परन्तु उनसे प्रेम नहीं करते जो दया व कृपा की मूर्ति हैं! हमारी शुद्धि के लिये उनकी सहायता सदैव उपस्थित है परन्तु हम उस ओर दृष्टिपात भी नहीं करते! पापी व धर्मात्मा दोनों के लिये उनका परम उदार हृदय खुला है। उनकी कृपा सब के लिये समान है। परन्तु हमको स्मरण नहीं रहता, हमको सूझ नहीं पडती और हम उस हस्त कमल का, जो हमारा अवलंब है, त्याग कर देते हैं! हम आध्यात्मिक गुरू की खोज करते हैं परन्तु उस गुरू का जो सदैव हमें उन्नति करने को प्रस्तुत है ध्यान भी नहीं करते!

निष्काम कर्म्म से हमारी इच्छाएं शुद्ध हो सकती हैं। ऐसा ही उपवास व उपासना से भी हो सकता है। परन्तु वह कौन सी बात है कि जिसको दैविक प्रेम न कर सकता हो? यह साधन भी है और उद्देश भी है। उस अद्भुत आनन्द को कौन त्यागना चाहेगा और किसके लिये? मुक्ति के लिये, जब उसकी इच्छा हो तब आवे। हमारे यथार्थ कल्याण को वह जानते हैं, केवल अपने चरण कमलों में सदैव रखें। बस इस हमारी प्रार्थना को स्वीकार करें और शेष जो इच्छा हो सो करें। हम पापी हैं, अवश्य हैं। जैसे कुछ भी हैं सो हैं। जैसे भी हैं उनकी शरण में हैं। क्या वह हमारा त्याग कर देंगे? क्या उनका अद्भुत प्रेम हमको पवित्र न कर देगा? हम अधिकारी नहीं हैं, तो क्या वह हमको अधिकारी बना न लेंगे? यदि वह अधिकारियों पर ही कृपा करते हैं तो क्या हुआ! यह तो उनका अनाधिकार ही था। परन्तु नहीं, वह तो दया की मूर्ति हैं, वह अपने ही विचार से अधिकारियों को भी शरण देंगे। यह तो उनका स्वभाव ही है। वह इसके विरुद्धकुछ कर ही

नही सकते फिर हम चिंतित क्यों ? उनके चरण कमलों में पडे हैं और सब कल्याण होगा।

परन्तु उनके प्रेम में क्या हम सांसारिक धर्मों को छोड दें ? क्या अब हम उनकी चिन्ता न करें जिनको हमारे प्रेम की ही इच्छा है ? हम किस मुख से दया की प्रार्थना करते हुए उनके सन्मुख होंगे जब हमको उन पर दया नही आती जो हमारी दया के इच्छुक हैं ? जब हम दूसरों को कष्ट दें, दूसरों पर अत्याचार करें तो वह हम पर क्यों दया करें ? उनका जीवन तो अत्याचार और दुख के नाश के लिये है उसकी अनुज्ञा के लिये नही। वह धर्मात्मा होने में हमारी सहायता कर सकते हैं परन्तु पापी और अपराधी होने में कदापि नही कर सकते। हम उनके सन्मुख तो छल छोडें, बस जैसे कुछ हैं, उनके सामने खुले हैं वही हमारी शुद्धि करें यही प्रार्थना है। परन्तु क्या हम अपने को उनके दर्शन का अधिकारी नही बनावेंगे ? वह अपनी कृपा से हमें भीतर जाने से न रोकें परन्तु क्या हम अपवित्रता को लिये हुए प्रवेश करने की ढिठाई करेंगे ? नहीं, हम बस उनके द्वार परही पडते हैं, हृदय से करुणा पूर्ण, हम अनाथ उनका स्मरण करते हैं। वह देखो ! अद्भुत प्रकाशवान् असीम दया मूर्ति स्वय ही द्वार पर आते हैं ! यह क्या ! उठाते हैं, हम को ! पापियों को ! अपने कोमल हाथों से ! लगाते हैं हृदय से ! आह ! क्या कभी हम इसको भूल सकते हैं ! कैसी कृपा ! कि जिसके हम कदापि अधिकारी न थे और न जाने कभी हो भी सकेंगे। ओह भगवन् ! हमारी बुद्धि काम नही देती। केवल आपही हमें उसका अधिकारी बना सकते हैं। जहा अपनी कृपा से आपने चढाया है वहा रहने के योग्य बना दीजिये, और अपना हाथ सदैव हमपर रखे रहिये। हे भगवन् वरदान दो कि अब भविष्य में धर्म पथ हमारे सन्मुख स्पष्ट रहे।

आपका जो प्रेम हमारे प्रति है उसका कौन कथन कर सकता है ? परन्तु हम आप से किस प्रकार प्रेम करें ? जो इच्छा रहित है उसे किस वस्तु से प्रसन्न करें ? सत्य है हमारा प्रेम स्वीकार हो जायगा। आप का प्रेम कैसा अथाह है ! हमारे इस प्रेम में भी हमारी अपनी शुद्धि ही आप को अभीष्ट है ! परन्तु आपसे प्रेम करें कैसे ? सत्य है आपको हमारे प्रेम के वाह्य चिन्ह की आवश्यकता नहीं आप तो हृदय को परखते हैं। परन्तु क्या हमारे अपवित्र हृदय में आपका प्रेम रह सकता है ? हा ! आपके लिये प्रेम का एक कण भी कैसे प्राप्त हो ! उसका एक कण भी हमारी शुद्धि का चिन्ह है और उसीसे आप सन्तुष्ट भी होते हो। कैसी आपकी अद्भुत कृपा है ! जिनको प्रेम करते हैं उनके प्रेम करने योग्य गुणों का हम ध्यान करते हैं। हम उनके दया से युक्त शुद्ध कर्मों की चर्चा करते हैं, हम उनके पवित्र और पुण्यमय जीवन का ध्यान करते हैं, उनके चरित्रों में हम मग्न हो जाते हैं। उनके चरित्रों की चर्चा करने, गान करने, सुनने में हम अपने को भूल जाते हैं। क्या आप के साथ भी हम ऐसा ही करें ? क्या हम उन सुन्दर चरित्रों का अध्ययन करें जो आपने पृथ्वी पर शरीर धारण कर के किये थे ? क्या हम दूसरों से आप के महत्व की, दया की, कृपा की, प्रेम की, प्रेमाश्रु पूर्ण नेत्रो से पुलकित शरीर से चर्चा करें ? क्या आपके गुणानुवाद में, ध्यान में आपके अद्-भुत स्वरूप के दर्शन में अपने को भूल जांय ? तो क्या इस प्रकार आपका प्रेम अपने हृदय में स्थित करने का प्रयत्न करें ? परन्तु यह प्रेम केवल प्रतिरूप मात्र तो न होगा ? आपके चरण कमलों में प्रति रूप मात्र को अर्पण कैसे करें हमारी सामर्थ्य इतनी ही है परन्तु इसके अर्पण करने में सङ्कोच होता है। आप ही अपनी असीम कृपा से इस प्रतिरूप को ही सत्य प्रेम कर लीजिये। जो

आप को इच्छा हो सो कीजिये, हम तो जैसे हैं वैसे हैं और वैसे ही आपके चरण कमलो की शरण हैं।

लोग हमसे पूछते हैं कि आप कौन हैं? हम क्या उत्तर दें? वह कहते हैं कि आप केवल कल्पित वस्तु हैं। परन्तु आपने तो मनुष्य शरीर भी धारण किया था और अब भी कहीं न कहीं हमारी रक्षा के हेतु आप उपस्थित हैं। हा! महाराज तो अपने इस समय के निवास स्थान के भी दर्शन कराइये! वह कहते हैं कि आप पृथ्वी पर ईसा मसीह थे कोई कहते हैं कि आप मुहम्मद थे, और लोग कहते हैं कि आप राम जी थे, और कहते हैं कि आप कृष्ण जी थे। कोई आपको बुद्ध बताते हैं। कोई महावीर और कोई नानक, हमारे लिये तो आप वही थे और हैं कि जिन्होंने निज स्वरूप को प्राप्त किया परन्तु हमारे हित के लिये मुक्ति का भी तिरस्कार कर दिया, जो अब भी हमारी रक्षा करते हो, जो शरणागत व्यक्तियो का उद्धार करते हो और जब मनुष्य जाति आपके दर्शन के लिये प्रार्थना करती है तो उसके उद्धार के लिये दिव्य रूप से अवतार धारण करते हो, हे भगवन्, हम आपके दर्शन के लिये प्रार्थना करते हैं! जो आपकी इच्छा हो सो हो, हम जानते हैं कि आपकी इच्छा हमारे कल्याण की ही होगी। अपना प्रेम हमको भी दान करो। भगवान्! क्या अपने प्रेम समुद्र में से हमको एक बूद भी न दोगे? एक बूद तो हम लेंगे ही क्योंकि हम जानते हैं कि आप मना नहीं कर सकते, परन्तु वह कब मिलेगी? बस अभी दो कि जिससे हम आपके पवित्र नाम के स्मरण में मगन हो जाय।